

साधक-साधन



परम पूज्यपाद श्री रामकिंकरजी महाराज

साधक-साधन



परम पूज्यपाद श्री रामकिंकरजी महाराज



परम पूज्यपाद श्री रामकिंकरजी महाराज

साधक-साधन

साधक-साधन

भाष्यकर्ता

परम पूज्यपाद श्री रामकिंकरजी महाराज

प्रकाशक

रामायणम् ट्रस्ट

श्रीधाम, अयोध्या-२२४१२३

सर्वाधिकार सुरक्षित रामायणम् ट्रस्ट, श्रीधाम अयोध्या

प्रकाशक

रामायणम् ट्रस्ट

परिक्रमा मार्ग, जानकी घाट,
श्रीधाम अयोध्या-२२४१२३ (उ. प्र.)
दूरभाष : ०५२७८-२३२१५२

संयोजन

मैथिलीशरण

सम्पादन

डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी

प्रथम संस्करण

संवत् २०६०, अक्षय नवमी, कृष्णमूर्ति प्राणप्रतिष्ठा दिवस, १ नवम्बर, २००३

मूल्य

५५/- रुपये मात्र

आवरण-सज्जा

दशरथ चंदेल, नागपुर

मुद्रक

रुचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली-३२ (०११-२२८२११७४)

॥श्रीरामः शरणं मम॥

पूज्य महाराजश्री की ओर से आशीर्वचन

शनिवार, १ नवम्बर, २००३, कार्तिक शुक्ल नौमी

(अक्षय नौमी) 'कृपामूर्ति' प्राण-प्रतिष्ठा दिवस।

आज के शुभ दिन जब परमपूज्य महाराजश्री अपने श्रीविग्रह के रूप में प्रकट हो रहे हों तब उनके शब्दमय विग्रह का प्रकाशन मणिकांचन योग माना जा सकता है। शब्द स्वयं तो निर्गुण होता है, पर उसमें निहित तात्पर्य और भावार्थ उसके सगुण रूप को प्रकट करते हैं। पूज्य महाराजश्री भी सगुण और निर्गुण दोनों थे और दोनों हैं, जिसने जैसे देखा।

महाराजश्री का यह ग्रन्थ उनके ग्रन्थ परम्परा में अनोखा है। ऐसा विशिष्ट विश्लेषण और ऐसी सुगम व्याख्या शायद अन्यत्र कहीं भी सुलभ न हो। उनका प्रत्येक ग्रन्थ उनका एक स्वरूप है। उसका अपना भाव और अपनी भंगिमा है। धन्य हैं वे लोग जिन्होंने उन्हें निर्गुण रूप में जाना और सगुण रूप में पहचाना।

श्री माधव अग्रवाल एवं श्रीमती उमा अग्रवाल की महती श्रद्धाभावना का फलित रूप है, इस ग्रन्थ का प्रकाशन। मेरा मानना है कि उनकी यह श्रद्धा इसलिए भी विशिष्ट है कि जब महाराजश्री शरीर रूप में प्रत्यक्ष नहीं हैं, तब भी वे उनके सुयश और चिन्तन को लोगों तक पहुँचाना चाहते हैं तो मैं परमपूज्य महाराजश्री को साक्षी रखकर उनको और उनके परिवार को आशीर्वाद देता हूँ कि उनका भौतिक और आध्यात्मिक उत्थान समाज और परिवार के लिए कल्याणकारी हो।

रामायणम् ट्रस्ट की अध्यक्ष परम आदरणीया मंदाकिनी श्रीरामकिंकरजी एवं सभी ट्रस्टियों की ओर से भी मैं श्री माधव अग्रवाल के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ कि वे ऐसी श्लाघनीय कार्य में माध्यम बने।

—मैथिलीशरण शर्मा

॥श्रीरामः शरणं मम॥

कृतज्ञता

पूज्य महाराजश्री के पाठको!

आप मेरा प्रणाम स्वीकार करें।

प्रस्तुत ग्रन्थ शत-प्रतिशत मेरे सद्गुरुदेव की कृपा का सुपरिणाम है। पिछली गुरुपूर्णिमा पर मैं गुरुदेव की पादुका-पूजन हेतु अयोध्या गया था। महाराजश्री के प्रिय कृपापात्र और विश्वासपात्र भाई मैथिलीशरणजी इस पुस्तक का कार्य करने के पश्चात् कुर्सी से टिके बैठे थे। शायद इस अन्तराल में 2 से 3 मिनट का अन्तर आया होगा, जब मैं शोध-कक्ष में गया और उनसे कहा कि भाईजी महाराजश्री का कोई अप्रकाशित साहित्य यदि शेष हो तो मुझे सेवा का अवसर दिया जाय। उनकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रही और वे बोले बस, अभी-अभी इस पुस्तक का कार्य पूरा हुआ है और आप सहसा यहाँ आ गये। महाराजश्री की यही इच्छा है कि यह कार्य आपके द्वारा हो और अभी हो।

यह मेरा परमसौभाग्य है कि आज जब पूज्य महाराजश्री कृपामूर्ति के रूप में अयोध्या में प्रकट होने जा रहे हैं और उस समय उनकी इस रचना का प्रकाशन भी हो रहा है, सुयोगों का ऐसा संगम शायद ही कभी हो कि जब भगवान् की प्राकट्य स्थली, मानस की प्राकट्य स्थली और गुरु की प्राकट्य स्थली एक ही हो, इस आध्यात्मिक संगम ने मुझ जैसे तुच्छ बूँद को प्रवेश मिल गया, यह महाराजश्री की कृपा है।

मुझे विश्वास है कि महाराजश्री के पाठकों को यह ग्रन्थ एक अलग ढंग का गम्भीर रस देगा, जो बाहर समाधान देगा और अन्दर सुख देगा।

प्रणाम।

—माधव अग्रवाल

समता कालोनी, रायपुर, छत्तीसगढ़

॥श्रीरामः शरणं मम॥

भूमिका

भगवान् शंकर के अन्तःकरण की अभिव्यक्ति ही मानस है एवं उस मानसरोवर में सतत् निवास करने वाले राजहंस हैं 'परमपूज्य श्री रामकिंकरजी महाराज'। आप गोस्वामी तुलसीदासजी के साहित्य की व्याख्या नीर-क्षीर विवेक प्रस्तुत करते हुए साधना एवं सिद्धान्तों की अभूतपूर्व, अद्भुत एवं व्यावहारिक विवेचना लोकार्पित करते हैं, जिसके द्वारा सहृदय समाज न केवल मनोवृत्तियों को निर्मल बना लेता है, अपितु रामकथा के दिव्यरस से स्वयं को आपूरित कर जीवन कृतकृत्य कर लेता है। तुलसी-साहित्य के दिव्य भाष्यकार परमपूज्य महाराजश्री हैं।

वेदान्तशास्त्र को यथार्थतः हृदयंगम कर पाना सामान्य व्यक्ति के लिए असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है, परन्तु महाराजश्री के भाष्यों का रसास्वादन करने के समनन्तर ऐसा प्रतीत होता है कि वेदान्त का निर्गुण-निराकार ब्रह्म सगुण-साकार रूप में मूर्तिमान होकर अपने रहस्यों को स्वयं उद्घाटित कर रहा है। जीवन-दर्शन एवं वेदान्तशास्त्र की सहव्याख्या गोस्वामीजी की रामकथा की महती विशिष्टता है।

महाराजश्री की प्रतीकात्मक विवेचना के गम्भीर रहस्यों को हृदयंगम करने के समान ही राम-कथा में 'संशय' की समस्या का समाधान स्वयंसिद्ध होता है। महाराजश्री के भाष्यों में जब मनोवृत्तियों की तुलना मानस के पात्रों से की जाती है तो विश्वास होने लगता है कि गोस्वामीजी ने भगवान् राम के मंगलमय वर्णन के साथ-साथ अन्तःकरण के समस्त रूपों की भी पारदर्शी व्याख्या प्रस्तुत कर दी है। फलतः ऐसा सिद्ध होने लगता है कि गोस्वामीजी का साहित्य सूत्र है और पूज्य महाराजश्री गोस्वामीजी के समग्र साहित्य के भाष्यकार किंवा भाष्य ही हैं। जब भाष्यकार भाष्य के एवं भाष्य भाष्यकार के रूप में परिवर्तित हो जाता

है तो सहृदय समाज को सन्तुष्टि प्राप्त ही होती है।

सिद्धान्त एवं व्यवहार के भेद से ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं। सिद्धान्त-ग्रन्थ में सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है तथा व्यवहार-ग्रन्थ में सिद्धान्तों को व्यावहारिक स्तर प्रदान कराने की यथासम्भव चेष्टाएँ की जाती हैं। साधना किन मनोवृत्तियों में सम्भव है? इस तथ्य के निरूपण के साथ-साथ साधकों की साधना के उत्कृष्ट एवं स्पष्ट दृष्टान्त भी यहाँ देखे जा सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में स्थूल-साधना का वर्णन नहीं है, वर्णन तो साधक की मनोवृत्तियों का है जो साधना के लिए प्राणस्वरूप हैं।

महाराजश्री की वाणी उनके प्रवचनों के संग्रह एवं उनके द्वारा स्वतः लिखित ग्रन्थों के रूप में विद्यमान है। प्रस्तुत ग्रन्थ महाराजश्री द्वारा स्वतः लिखित है। प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित सभी तथ्य भी महाराजश्री द्वारा स्वयं अनुभूत हैं, परिणामतः सच्चे साधकों के लिए पूर्ण व्यावहारिक हैं।

नाम, रूप, लीला एवं धाम के रूप में प्रभु के चार विग्रह स्वीकार किये गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रभु के चारों विग्रहों का रहस्य आवरणरहित रूप में व्याख्यायित है। साधना-काल में व्यक्ति के भावों के सापेक्ष होने की महती आवश्यकता होती है, उन उपेक्षाओं के निर्माण के लिए अनुकूल मानसिक वातावरण का सृजन साधक के लिए संजीवनी औषधि है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मानसिक वातावरण की सर्जना के लिए नाम, रूप, लीला एवं धाम का साधन के रूप में स्पष्टीकरण है।

प्रभु के नाम-विग्रह की साधना का स्पष्टतम भाष्य करते हुए महाराजश्री ने निरूपित किया है कि जनमानस यथा कथंचित् नामोच्चारण को महत्त्व प्रदान करता है, परन्तु नाम-मंत्र के अर्थ की भावनाओं में आलोडन-विलोडन करना ही सार्थक नाम-साधना है—जपस्तदर्थभावनम्।

रूप-विग्रह की साधना में प्रेम एवं वासना के अन्तर की विशद व्याख्या है। भगवान् का विग्रह वासना की सृष्टि नहीं करता। भगवान् के दिव्यरूप का दर्शन करके ज्ञान में लीन अथवा ब्रह्मलीन विदेह एवं सनकादि भी आकृष्ट होते हैं जो उनके सौन्दर्य की पूर्णता की ओर संकेत करता है। भगवद्रूप को आत्मसात् करने का उद्देश्य अन्तःकरण

को निर्मल बनाना है। ध्यान की पद्धति से हृदय निर्माण की प्रक्रिया ही रूप-साधना का रहस्य है।

लीला-विग्रह की साधना की व्याख्या में राक्षसों को मोहित करने वाली एवं भक्तों को सुख प्रदान करने वाली प्रभु की द्विविध लीला है। भक्तों के सन्दर्भ में भगवान् की दिव्य रसमयी लीला का रहस्य ही लीला-साधना का उद्देश्य है।

धाम-विग्रह का वर्णन करते हुए महाराजश्री कहते हैं कि अपने मन को भावना में सराबोर कर देने का उत्तम स्थान धाम है। अन्तःकरण में एवं बाह्य स्थलों पर भी प्रभु का सहज दर्शन जीवन की वास्तविक परिपूर्णता है। सांसारिक व्यक्ति का जीवन अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होता है, अतः बाह्य जीवन में प्रभु का दर्शन न होना जीवन की अपूर्णता ही है, ऐसे रहस्यों का अद्भुत वर्णन प्रस्तुत निबन्ध में वर्णित है।

उपर्युक्त रहस्यात्मक निबन्धों के साथ-साथ प्रस्तुत ग्रन्थ में भक्त, भक्ति, सिद्ध-भक्त-कवि एवं मानस में शृंगार आदि चार निबन्ध और हैं, जिसमें तुलसी साहित्य के सिद्धान्तों की संगति एवं बोध के स्तर पर उनकी सहज एवं सरल व्याख्या है। इसके अतिरिक्त महाराजश्री ने गोस्वामीजी के साहित्य के अध्ययन की व्यावहारिक एवं भावमयी दृष्टि भी प्रदान की है। स्वान्तः सुखाय भक्ति का आमूल-चूल विवेचन गोस्वामीजी का लक्ष्य है। अतः इस ग्रन्थ का समग्र निरूपण भक्ति के सन्दर्भ में ही किया गया है।

मैं रामायणम् ट्रस्ट की अध्यक्ष पूज्यनीया दीदी मंदाकिनी श्री रामकिंकरजी के प्रति अपना प्रणाम और अभिवादन निवेदन करता हूँ कि जिनके सत्-प्रयोजन से पूज्य महाराजश्री का वाङ्मय अभी भी पुष्पित और पल्लवित हो रहा है। यह महाराजश्री के विराट् रूप का परिचय तो है ही साथ ही उन भावनाओं का साकार रूप भी है, जिसके द्वारा आदर्श और भावनाएँ व्याख्यायित होती हैं।

—डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी

॥श्रीरामः शरणं मम॥

अनुक्रम

नाम-साधना	१
रूप-साधना	१६
धाम-साधना	२३
लीला-साधना	३६
भक्त	५४
भक्ति	६०
सिद्ध-भक्त-कवि	७६
मानस का श्रृंगार	६८

नाम-साधना

साध्य के स्वरूप का निश्चय हो जाने के पश्चात् साधन-प्रणाली का प्रश्न सामने आता है। गनतव्य का निर्णय करने के पश्चात् ही मार्ग और वाहन का निर्णय करना पड़ता है। मार्ग व वाहन निर्णय करने के लिए भी अपनी क्षमता एवं रुचि को ध्यान में रखना पड़ता है।

सौभाग्यवश, भक्ति-साधना में ऐसी अनेक पद्धतियाँ हैं, जो विभिन्न प्रकार की रुचि तथा क्षमता रखने वाले व्यक्तियों के लिए उपयुक्त हैं। यह ध्यान रखना आवश्यक है और इसका बड़ा महत्त्व है कि साध्य-साधना के बार-बार परिवर्तन से साधक की शक्तियों का अपव्यय होता है। ऐसा करने से अन्त में ऐसी थकान का अनुभव होता है कि फिर कुछ भी कर पाने का उत्साह शेष नहीं रह जाता। अतएव साध्य-साधना का निर्णय करने के पश्चात् अपने निर्णय पर अडिग रहा जाय। इसी भावना को साधन-शास्त्रों में 'निष्ठा' के नाम से पुकारा गया है।

‘पूर्ण’ यदि सर्वत्र है तो उसे अभिव्यक्त करने के लिए स्थान परिवर्तन की नहीं, दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है। पूर्ण ही सर्वत्र है और वह अविभाजित है। उसका विभाजन हम साधन की सुविधा के लिए करते हैं—नाम, रूप, लीला एवं धाम, भगवान के चार विग्रहों को विभाजित करने का तात्पर्य यही है कि, अपनी अभिरुचि के अनुरूप हम साधन-प्रणाली का निर्धारण कर सकें। अनाम को नाम देने की भावना के पीछे भी वही रहस्य है, जिससे हम उसे बुला सकें। अरूप से रूप ग्रहण की प्रार्थना की गयी, जिससे उसे प्रत्यक्ष देख सकें। इसी तरह कूटस्थ द्रष्टा से लीला का अनुरोध किया गया, जिससे हम अपना हृदय तृप्त कर सकें। सर्वव्यापक होते हुए भी ईश्वर ने एक विशिष्ट धाम स्वीकार किया, जिसके आधार पर साधक एक स्थल पर उसे अभिव्यक्त

कर सके। और तत्पश्चात् वह अनुभूति के आधार पर उसे अग-जग मय अर्थात् प्रत्येक स्थान पर जान सकें। यह तो अपनी अभिरुचि की बात है कि हम किसे मुख्यता दें। भगवान् के चार विग्रह-नाम, रूप, लीला और धाम इन चारों की साधना में समान परिणाम देने की क्षमता और महिमा होते हुए भी यह साधक की रुचि पर निर्भर करता है कि वह उसके फल को क्या नाम देता है? कोई साधक इसको मुक्ति कह सकता है। कोई अन्तःकरण की शुद्धि के रूप में देख सकता है। और कोई भक्ति के रूप में भी उसे प्राप्त कर सकता है। मानस में चारों की महिमा का वर्णन है।

पहले नाम को ही लें। गोस्वामीजी स्वयं नाम-निष्ठ हैं। 'नाम' साधारण दृष्टि से अक्षर-समूह है, जिसके द्वारा शब्द निर्माण कर हम व्यवहारिक जीवन में पूर्व-निश्चित संकेत द्वारा उसे वस्तु-व्यक्ति आदि के परिचय में प्रयुक्त करते हैं। जब हम किसी शब्द के अर्थ की बात करते हैं, तो उसे ठोस सत्य समझते हैं। यदि कोई 'पवन' शब्द का अर्थ 'वायु' छोड़कर अन्य कुछ बता दे तो सम्भव है कि, हिन्दी-संस्कृत-भाषी, उसके अर्थ-अज्ञान पर हँस पड़े, किन्तु यदि शब्द के अर्थ को व्यापक रूप में जाना जाय तो विचारवान व्यक्ति यह समझ जायेगा, उसकी भाषा में पवन का अर्थ वायु या हवा नहीं है और तब हँसी करने वालों की निःसारता सिद्ध हो जायेगी।

पवन को हवा के अर्थों में स्वीकार करना तो समाज विशेष का भाषाजनित अर्थ है। किसी अन्य भाषा में पवन शब्द को दूसरे अर्थ में भी प्रयुक्त किया जा सकता है और उस भाषा-भाषी को वह अर्थ भी उतना ही ठोस सत्य लगेगा, जितना आपको पवन का अर्थ 'वायु' लगता है। वस्तुतः अक्षर का स्वयं में कोई अर्थ है ही नहीं। वह स्वयं में वह निष्प्रयोज्य है। व्यक्ति ने ही उसे अर्थ देकर काम के योग्य बना दिया। सत्य तो यह है कि इस विराट् में ऐसा कुछ है ही नहीं जो व्यर्थ हो अथवा जिसे हम व्यर्थ की साधारण वस्तु मान सकें। वह किस समय स्वयं में कौन-सा अर्थ व्यक्त कर देगी, इसे कौन कह सकता है? विविध आविष्कार और औषधियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि साधारण या उपेक्षित मानी जाने वाली वस्तु में कितनी असाधारणता छिपी हुई थी। साधारण व्यक्ति जब तक उस वस्तु में छिपे गुण को नहीं जानता, तब तक

उसका व्यर्थ और तुच्छ कार्यों में उपयोग करता है। एक वैज्ञानिक की सजग दृष्टि, उसमें निहित गम्भीर अर्थ को पहचान लेती है, तब लगता है कि, अरे! इस वस्तु का कितना दुरुपयोग हुआ है।

वस्तुतः अक्षरों का जीवन में प्रतिक्षण व्यवहार करते-करते उसमें निहित 'तत्त्व से' हम सर्वथा विस्मृत हो गये हैं। उसे हम अपनी ही कृति मानकर सन्तुष्ट हो गये हैं। मन्त्र के रूप में जो अक्षर-समूह को विविध रूप दिये गये हैं, उसे पढ़कर अज्ञ व्यक्ति हँस पड़ता है। उसे वे निरर्थक प्रतीत होते हैं, तभी अर्थ का अन्वेषण होता है। शब्द का अर्थ मात्र उतना ही नहीं है जो व्यवहार में प्रयुक्त किया जाता है, उसका परमार्थ क्या है ? जप का तात्पर्य है उस परमार्थ का ज्ञान। एक शब्द के अर्थ का सम्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी लक्ष-लक्ष आवृत्तियाँ की जाती हैं। विविध शब्दों में जिस अर्थ का आरोप करके लोग अपने को अर्थज्ञान का पण्डित मान लेते हैं, वह अभिमान ही बढ़ाता है, सत्य के सन्निकट नहीं ले जाता। भगवान् शिव ने शतकोटि राम-चरित्र में से एक मात्र 'राम' शब्द का चुनाव कर लिया। अन्य लोग समस्त रामायण का अर्थ लगा डालते हैं। पर भगवान् शिव आज तक 'राम' नाम को ही याद कर रहे हैं, उसी का अर्थ लगा रहे हैं—

ब्रह्म राम ते नामु बड़ बरदायक बरदानि।

रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि॥ १/२५

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग अराती॥

१/१०७/७

परिणाम क्या हुआ ? सारे राम चरित्र को जानने पर भी देवता-दैत्य, विष-ज्वाला से जहाँ दग्ध होने लगे थे, वहाँ उसी राम-नाम का अर्थ जानकर भगवान् शिव उस कालकूट को पी गये—

नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥

१/१८/८

राम-नाम, भगवान् शिव के लिए 'अक्षर-तत्त्व' है, इसीलिए अमरता भी उसी में सन्निहित है। नाम को लेकर प्रत्येक व्यक्ति विष को नहीं पचा सकता। पर भगवान् शिव तो पचा सके। इसका कारण है कि साधारण व्यक्ति नाम में

निहित तत्त्व को नहीं जान पाता। परिणामस्वरूप वह उसके अमृतत्त्व से वंचित रहता है। पर भगवान् शंकर ने 'राम' नाम में अमृतत्त्व के संकेत और शक्ति को समझ लिया। उसी के परिणामस्वरूप वे विष के हलाहल को अपने कंठ में स्थित 'राम' नाम की शक्ति से धारण कर पाये और नाम महिमा को व्यक्त कर पाये।

नाम की महिमा का वर्णन बहुतों को अर्थवाद प्रतीत होता है, उसका एकमात्र कारण 'अक्षरों का नित्य साधारण रूप में होने वाला प्रयोग है'।

गोस्वामीजी नाम की वन्दना करते हुए इसी तात्त्विक स्वरूप का संकेत करते हैं—

बंदऊँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥

१/१८/१

स्पष्ट है कि, गोस्वामीजी 'र-अ-म' तीन वर्णों को अग्नि, सूर्य एवं चन्द्र के मूलकारण के रूप में उल्लेख करते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम जटिल है। वेदों में सृष्टि के मूल में अग्नि तत्त्व का उल्लेख है। कठिनाई यही है कि, अग्नि शब्द का उल्लेख करते ही हम लोगों के समक्ष स्थूल अग्नि की एक आकृति आ जाती है। अधिभूत रूप में जो अग्नि प्रत्यक्ष दिखायी देती है, उससे 'र' अक्षर का क्या सम्बन्ध है ? तब दोनों (र और अग्नि) का ही भौतिक रूप सामने आ खड़ा होता है। यह एक कविता-सी लगने लगती है। वस्तुतः 'र' अक्षर की आकृति तो प्रत्येक भाषा में एक कल्पित रेखा-संकेत के माध्यम से स्पष्ट की जाती है, वह तो व्यावहारिक उपयोग के लिए परिकल्पना है। अक्षर की ध्वनि पर ध्यान दें। प्रत्येक अक्षर के उच्चारण में जिह्वा का विविध स्थानों के सहयोग से जो घर्षण होता है, वही अक्षर का स्थान माना जाता है, जैसे—'ऋदुरषाणां मूर्धा' आदि। इस घर्षण के लिए भी प्राण-शक्ति का उसके साथ उपयोग करना होता है। ज्ञान में अक्षरार्थ का बोध (भले ही वह कल्पित हो) एवं उसके प्रयोग की आवश्यकता होने पर ज्ञान, प्राण को प्रेरित करता है। प्राण इन्द्रिय के माध्यम से उसका उच्चारण करता है और तब उसे किसी पट्टिका या पत्र पर हम आकृति-विशेष प्रदान कर देते हैं। यह तो व्यक्ति के जीवन में अभिव्यक्ति प्राप्त करने वाला सीमित अक्षर सत्य है। विराट् में भी अक्षर तत्त्व

अपने समष्टि अर्थ के बोधक के रूप में प्रकट होता है। वहाँ राम अपने अमृत तत्त्व के गुण को व्यक्त करता है।

भगवान् शिव, राम-नाम के रहस्य को सबकी अपेक्षा अधिक जानते हैं। इसका कारण यही है कि वे विराट् के अहं हैं। अमरता के मूल स्रोत का उद्गम, जिसके द्वारा सृष्टि-प्रवाह निरन्तर क्षरित होने पर भी अक्षर है-उस रूप को जानते हैं। यहाँ तक तो नाम की सगुणता है। जहाँ वह व्यक्ति-बोधक अर्थ से लेकर अमृत-तत्त्व का बोधक अर्थ तक व्यक्त करता है। विज्ञान की भाषा में साधारण व्यक्ति के लिए 'राम' शब्द एक स्थूल पदार्थ है। समष्टि चेतना के लिए राम शब्द विस्फूर्जित ऊर्जा में परिवर्तित अक्षर शक्ति का (अमरता का) पुञ्ज है। खोज की सीमा यही है। इसके परे जो है, वह नाम का अगुण रूप है, अव्यक्त है। यह एक बौद्धिक खिलवाड़ ही नहीं है। गोस्वामीजी ने नाम के भी इन द्विविध रूपों का ही उल्लेख किया है—

विधि हरि हर मय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥

१/१८/२

सृष्टि में जो भी साकार तत्त्व है, सबके मूल में यह अग्नि ही है, जो साक्षात् गति के रूप में प्रेरक है। उसी के दो रूप सूर्य और चन्द्र (जो कि उष्णधारा और शीतधारा के सूचक हैं) के रूप में सृष्टि के समस्त व्यवहार चला रहे हैं।

यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि, अग्नि की मानस में अभूतपूर्व मान्यता है। प्रभु के प्राकट्य के मूल में भी यज्ञ द्वारा अग्नि का आविर्भाव है। अग्निदेव ने प्रत्यक्ष होकर महाराज दशरथ के हाथ में 'चरु पात्र' दिया। अग्नि के प्रकटीकरण की पद्धति में ही ब्रह्म के प्रकट होने की पद्धति का संकेत है। यज्ञ में अरणि-मन्थन द्वारा अग्नि प्रकट करने का तात्पर्य भी व्यापक अव्यक्त तत्त्व को व्यक्त करना है—

एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥ १/२२/४

भगवान् शिव ने भी ऐसा ही संकेत दिया—

अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तैं प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

१/१८/७

साधारण अर्थों में अग्नि एक जड़ तत्त्व है। यहाँ जिस अग्नि का संकेत है; वह इस लौकिक अग्नि का अधिष्ठातृदेवता है। अधिकांश व्यक्ति इस जड़ अग्नि को ही देख पाते हैं, उसी के द्वारा हमारा व्यवहार चलता है, फिर भी उसकी जड़ता का हम लोग प्रत्यक्ष अनुभव करते रहते हैं, वह अग्नि अच्छे-बुरे का भेद किये बिना वस्तु को भस्म कर देती है। मानस में अग्नि चैतन्य तत्त्व के रूप में किया गया है। जिसके द्वारा हनुमानजी की पूँछ और विभीषण का घर भस्म नहीं होता। रावण समझता था कि अग्नि हमारे वश में है, पर यह भूल गया कि हनुमानजी उसी के दूत हैं, जो अग्नि का सृजन करता है—

ता कर दूत अनल जेहिं सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा ॥

५/२५/७

अग्नि के मूल में वही राम हैं। रावण-वध के पूर्व जब राम जानकी के प्रतिबिम्ब का अपहरण कराने की योजना बनाते हैं; तब वे महाशक्ति से अग्नि में निवास करने का अनुरोध करते हैं—

तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौ निसाचर नासा ॥

३/२३/२

रावण का विनाश करना, यह कार्य भी शक्ति का है, उसी को वन्दिनी बनाकर निष्क्रिय कर देने पर संहार का कार्य सम्पन्न ही कैसे हो सकता है? अतएव प्रतिबिम्ब को बन्दी बनाकर रावण स्वयं पर गर्व करता हुआ सन्तुष्ट है। महाशक्ति ही मानो, स्वयं पावक में निवास करती हुई लंका दुर्ग को भस्म कर देती हैं। जब रावण सिर कटने पर भी नहीं मरता है, तब राम के पूछने पर विभीषण ने इसका कारण रावण के नाभि का मूल अमृत-कुण्ड बताया। वहाँ भी प्रभु पावकास्त्र का प्रयोग करते हैं—

सायक एक नाभि सर सोषा। ६/१०२/१

उस अव्यक्त तत्त्व से यह अग्नि-सूर्य-चन्द्र कैसे प्रकट हुए ? जब सृजन का संकल्प किया होगा, तब वह मूल में ज्ञानात्मक रूप में ही रहा होगा। अक्षर ज्ञान का प्रतीक है। मूल अगुण ज्ञानात्मक र-अ-म के त्रिविध व्यक्त रूप अग्नि-सूर्य-चन्द्र हैं। भगवान् के संकल्पमात्र से सृष्टि का सृजन हो जाता है। अग्नि शक्ति है—मुखादग्निरजायत। चन्द्र (चन्द्रमा मनसो जातः) आकांक्षा है।

सूर्य (चक्षोः सूर्यो अजायत)-(नयन दिवाकर) निर्माण है-

उमा राम की भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥

६/३४/७

‘ज्ञान’ नित्य अक्षर है। अग्नि-सूर्य-चन्द्र का भी मूल कारण वही है। वैदिक रूप में वह ‘ॐ’ है। मानस में वह ‘राम’ है। ‘ॐ’ दुर्गम है, इसमें अधिकार-अनधिकार की बात उठायी जाती है। किन्तु राम सबके लिए हैं, जो अगम होते हुए सुगमतर हैं।

यह तो नाम के सिद्धान्त पक्ष की बात हुई। अब भक्ति सिद्धान्त की मौलिकता एवं उसकी साधन-प्रणाली की सरसता और हृदय ग्राह्यता का प्रश्न आता है।

नाम (मन्त्र) को अधिकांश साधनपक्षों में स्थान प्राप्त है; पर यहाँ उसमें विलक्षण मधुरिमा है। अन्यत्र नाम-साधना के साथ एकाग्रता अपेक्षित है। भक्ति में नाम या मन्त्र के साथ विश्वास की अपेक्षा बतायी गयी-

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥

३/३५/१

विश्वास और एकाग्रता में प्रथम भेद, सहज-भावना और प्रयास-साध्यता का है। विश्वास में सजग रहने की आवश्यकता नहीं है, वह नाम-अक्षर या अनन्त शक्तिमय ब्रह्म की महत्तम अभिव्यक्ति ही नहीं है, जिससे निरन्तर सावधान रहने की आवश्यकता हो-

मेरे तौ माय-बाप दोउ आखर हैं सिसु अरनि अरो। वि.प. २२६/५

गोस्वामीजी के लिए ‘रा+म’ माता-पिता हैं। नन्हा बालक व्यवहार में माता-पिता के प्रति सजग नहीं रहता, फिर भी बालक निश्चिन्त रहता है। क्योंकि बालक को माँ-बाप के अनन्त वात्सल्य पर पूर्ण भरोसा है-

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

४/२/४

इसी भावना की पृष्ठभूमि में गोस्वामीजी के नाम-माहात्म्य के रूप में कहे गये अनेक वाक्यों की संगति लग सकती है-

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

१/२७/१

यह चौपाई बहुधा उद्धृत की जाती है और इस पंक्ति से यह सिद्ध हो जाता है नाम चाहे जैसे लिया जाय, परम कल्याणकारी होता है। वस्तुतः ऐसा अभिप्राय है नहीं। क्योंकि जिस फल का गोस्वामीजी ने उल्लेख किया, वह परोक्ष फल के रूप में तो है नहीं कि उस पर भरोसा कर लें। उस फल का तो प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए। यदि नाम का ऐसा ही फल है तो, क्या विधिहीन जापकों को दसों दिशाओं में मंगल की अनुभूति हो रही है ? यदि नहीं तो प्रमाण-वाक्य उद्धृत करने से लाभ ही क्या ? तो क्या गोस्वामीजी का यह अर्थवाद है ? किसी भी व्यक्ति के शब्दों का अर्थ करते हुए स्वयं उसकी मनःस्थिति का ध्यान रखना आवश्यक है।

कैकेयी राम को वन जाने की आज्ञा देते हुए संशयालु हो उठी थीं। क्या राम वन जाना स्वीकार करेंगे ? इसका उत्तर देते हुए राघवेन्द्र ने कहा कि यदि किसी ऐसे मूर्ख की कल्पना करें, जो कल्पतरु को छोड़कर एरण्डतरु का सेवन करे और अमृत छोड़कर विष पी ले, तो ऐसे प्रस्ताव को जो स्वीकार कर लेगा वह मूर्ख ही होगा ! क्या सचमुच ही वह प्रस्ताव ऐसा था, जिसे प्रत्येक स्वीकार कर लेगा ? हम सभी लोग जानते हैं कि बिरले महापुरुष ही ऐसा करेंगे। वस्तुतः इस वाक्य में श्रीराम के चरित्र का औदार्य और उनके सोचने की शैली की विशेषता प्रकट होती है। राज्य के स्थान पर वन जाने के प्रस्ताव में उन्हें कैकेयी अम्बा के प्रति इतना विश्वास था कि माँ मेरा भला छोड़कर कुछ कर ही नहीं सकती। यह भगवान् श्रीराम का माँ कैकेयी के प्रति अबोध बालक के रूप में सहज प्रेम की ओर इंगित करता है—

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥

१/२२/३

स्वयं गोस्वामीजी 'प्रतीति प्रीति रुचि मन की' कहते हैं। गोस्वामीजी की नाम के प्रति जो भावना है, उसे देखते हुए, उनका वाक्य सर्वथा सत्य है। अब प्रश्न है कि शिशु माँ का नाम कैसे पुकारता है और माँ किस प्रकार से प्रसन्न होती है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि बालक प्रत्येक स्थिति में

माँ को पुकारता है और माँ हर पुकार पर दौड़ी आती है, बालक कभी बड़े भाव भरे शब्दों में पुकार उठता है—‘माँ’ ! कभी माँ पर क्रुद्ध हो उठता है। उसे लगता है कि माँ बड़ी निष्ठुर है, तो कभी ऐंठकर बोल पड़ता है। माँ के प्रति शिशु की मान्यता और विश्वास का परिणाम यही है कि माँ उस घर रीझी रहती है।

गोस्वामीजी ने जिस नाम को जाना, वह ऐसा ही है। उसी आधार पर दूसरों का अनुभव वैसा ही हो, यह आवश्यक नहीं है। एक न्यायाधीश का बालक अपने पिता के स्वाभाव का वर्णन कर रहा हो, उसके द्वारा यह सुनकर कि न्यायाधीश तो इतना सहृदय है कि कन्धे पर कूदकर बैठ जाने से प्रसन्न होता है। यदि आप न्यायालय में जाकर वैसा व्यवहार करें तो परिणाम क्या होगा?

भक्तिशास्त्र में विधि को महत्त्व न देकर ‘विश्वास’ को महत्त्व दिया गया है। इसलिए कहने में सुगम हो गया। पर व्यवहार में प्रयोग करते समय समस्या जटिल ही है। नाम को बिना साक्षात् भगवद्रूप समझे, कोई व्यक्ति उस पर समग्र विश्वास कर भी कैसे सकता है ? यह विश्वास केवल चौपाई दोहरा देने का वाचिक रूप से कह देने मात्र का नहीं है। इस प्रचलित विश्वास पर व्यंग्य करते हुए प्रभु ने कहा—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥

७/४५/३

अतएव भगवान् शिव, वाल्मीकि, गणेश, पार्वती आदि सभी दृष्टान्तों में इसका वह रहस्य हृदयंगम किया जा सकता है। भगवान् शिव, नाम के प्रभाव को भली प्रकार से जानते हैं, तभी ‘नाम प्रभाउ जान सिव नीको’ कहा गया।

भगवान् शिव मूर्तिमान् ‘विश्वास’ हैं। वे (विश्वास) ही, इसे (नाम-प्रभाव को) भली प्रकार जानते हैं, उस विश्वास का उन्होंने परिचय दिया—‘कालकूट का पान वे सहज भाव से कर गये’। महत्त्वपूर्ण तात्पर्य यह भी है कि कालकूट ने ही अमृत का फल दिया। अन्य देवता अमरता के लिए खोज रहे थे, उनकी दृष्टि में कालकूट मारक है; और अमृत है अमरता का कारक। पर भगवान् शिव तो मूल-सत्य जानते हैं। वह मूल-सत्य यही है कि कालकूट और अमृत दोनों का मूल तत्त्व कौन है ? एक राम से ही अग्नि-सूर्य-चन्द्र तीनों का

प्राकट्य है। तीनों पृथक्-पृथक् दिखायी देने पर भी जीवन के लिए पूरक तत्त्व हैं। ताप और शीत दो विरोधी तत्त्व होते हुए भी एक का अभाव होते ही जीवन नष्ट हो जायेगा। समुद्र से अमृत के पहले गरल का प्रकट होना भी इसी तथ्य का सूचक है। देवता जीवन के इस परम सत्य से वञ्चित हैं, क्योंकि इनकी दृष्टि इस मूल तत्त्व की ओर नहीं है। नामोच्चारण करते हुए उस हलाहल के पान का तात्पर्य (भगवान् शिव की दृष्टि में) अंश को पूर्ण में एकाकार कर देना है। जहाँ अंश पूर्ण की ओर जा रहा है, वहाँ विनाश कहाँ ? पूर्ण से अंश का पृथक् होना ही विनाश को आमन्त्रित करना है। सारी विराट्-प्रकृति में यही रहस्य देखने को मिलता है। पृथक् इकाइयाँ सभी पृथक् गुणों से मुक्त जान पड़ती हैं। किन्तु अन्तरंग में पैठकर देखने से उनका प्रयास एकत्व की ओर है, ऐसा जान पड़ता है। अंश भटक रहा है पूर्ण की ओर जाने के लिए। गोस्वामीजी वर्षा ऋतु प्रसंग में दो मधुर पंक्तियाँ लिखते हैं—

भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥

४/१३/६,८

समुद्र की कल्पना हरि के रूप में करते हुए गोस्वामीजी बूँद के रूप में जीव की कल्पना करते हैं। जब वह बूँद, सूर्य की किरणों अर्थात् माया से खिंचकर आकाश में मेघ की आकृति ग्रहण कर लेती है; तब यह नया रूप आकाश की यह उड़ान, उसे कितनी अच्छी लगती होगी। तब वह गर्जना करती हुई अपनी महत्ता का प्रदर्शन करती है। अवसर ऐसा आता है, जबकि वायु (वासना) का एक झोंका उसे खण्ड-खण्ड करके पृथ्वी पर फेंक देता है। धूल-धूसरित बूँद मलिन एवं चूर-चूर हो जाती है। वह बूँद भटकती हुई (कर्म की सृष्टि करती हुई) नित्य ही पद-दलित होती है। कहीं मार्ग में छोटे गड्ढे के रूप में एक क्षण के लिए शान्ति पाने की चेष्टा में, चरण-प्रहार से मलिन होकर व्याकुलता लिए रहती है—

सदा मलीन पन्थ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने।

(वि.प.२३५/३)

वह बूँद सरोवर में पहुँच गयी, तो वहाँ अवश्य इसे सिमट कर एकत्र

होने से कुछ शान्ति मिली। फिर भी सौभाग्य तो तब है, जब सरिता में पहुँचकर उस अनवरत प्रवाह में बहती हुई, पुनः समुद्र में मिल जाय, जो समुद्र अपनी भुजा पसारते प्रतीक्षा कर रहा है, प्रभु में एकाकार हो जाय, नाम-रूप खोया कि वह तो सीम से असीम हो गया—

सरिता जल जलनिधि पहुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥

४/१३/८

इस तत्त्व को जानने के कारण भगवान् शिव से हलाहल पान का अनुरोध किया गया और उन्होंने लोक-कल्याण के लिए उसे स्वीकार कर लिया—

जरत् सकल सुरवृन्द विषम गरल जेहिं पान क्रिय।

तेहि न भजसि मनमन्द को कृपालु संकर सरिस॥ ४/०

वाल्मीकि-गाथा और भी विलक्षण है। सप्तर्षियों ने उन्हें दुष्कर्म से पृथक् कर पहले राम (इसके उच्चारण में असमर्थ देखकर) पश्चात् 'मरा' शब्द के जप का उपदेश दिया। 'मरा' शब्द के जप से वे महामुनि एवं आदि कवि हो गये। प्रश्न है कि इसका उद्देश्य क्या है ? ऐसे फल का वर्णन करना जिससे साधारण व्यक्ति ही नहीं, बुद्धिमान भी असमंजस में पड़ जाय, इसका क्या अर्थ है ? लोग सीधे राम नाम लेते हुए भी ऐसी स्थिति नहीं प्राप्त कर पाते। यदि इसे अर्थवाद कहकर नाम में प्रवृत्ति के लिए लिखा गया उपाख्यान मात्र मान लें, तो प्रवृत्ति के स्थान पर व्यक्ति को यह अश्रृंखला बना देगा। क्योंकि तत्काल फल का आश्वासन दे देने पर उसकी प्राप्ति न होना, व्यक्ति को संशयालु बना देता है।

वाल्मीकि को सप्तर्षियों के शब्द में दृढ़ आस्था एवं विश्वास तो स्पष्ट ही है, इसके साथ ही इस साधारण तथा प्रतिकूल शब्द ने ही उनको परम सत्य की ओर उन्मुख कर दिया। लोक में प्रचलित शब्द परम्परा में अक्षरों के परिवर्तन से समस्त अर्थ ही परिवर्तित हो जाता है, तिस पर भी सप्तर्षियों को 'राम' के स्थान पर 'मरा' शब्द का जप बताने में कोई संकोच नहीं हुआ।

इसका तात्पर्य यही है कि सप्तर्षि अक्षर को ब्रह्मतत्त्व के रूप में जानते हैं। उसमें कोई उल्टे-सीधे का क्रम नहीं है। यह क्रम तो साधना की दृष्टि से कार्य-कारण की संगति सिद्ध करने के लिए स्थिर किया गया है। राम और मरा शब्द में आरोपित अर्थ की दृष्टि से महान् अन्तर है, पर तात्त्विक दृष्टि

से कृशानु-भानु-हिमकर में मूल कारण के रूप में कोई पार्थक्य नहीं है।

भूल भी कभी-कभी बहुत बड़े ज्ञान का कारण बन सकती है। कोलम्बस की भूल ने उसे नयी-दुनियाँ अमेरिका में पहुँचा दिया। राबर्ट फ्लेमिंग की भूल ने पेनिसिलीन जैसी औषधि को आविष्कृत कर दिया। अरे आदिम दुनियाँ से सैकड़ों भूलों का संशोधित संस्कार आज सृष्टि में दिखायी दे रहा है। एक व्यक्ति को किसी नगर में पहुँचना है, वह नगर उसके आवास से पूर्व में है, भ्रम से पश्चिम की ओर चलने लगा। चलने वाला व्यक्ति हार मानने वाला नहीं है, उसे बताने वाले व्यक्ति पर दृढ़ विश्वास है। एक साधारण दर्शक को उसका यह कार्य महान् मूर्खतापूर्ण लगेगा। पर यदि वह पथिक दृढ़तापूर्वक चलता जाय तो क्या होगा ? पृथ्वी की गोलाई के कारण अन्त में एक दिन पथिक अपने गन्तव्य पर पहुँच ही जायेगा। हाँ, साधारण यात्री की भाँति गन्तव्य पर नहीं पहुँच सका, ऐसा प्रश्न आप रखेंगे ? पथिक ने दो महान् ज्ञान और भी प्राप्त किया— (१) समस्त भू-भ्रमण, (२) पृथ्वी की गोलाई के चिपटेपन का प्रत्यक्ष अनुभव।

वाल्मीकि का उलटा नाम-जप, उन्हें और भी महद् ज्ञान की ओर ले गया। सीधे जप से अक्षर में आरोपित अर्थ बार-बार सामने आ जाता है और व्यक्ति बहुधा सन्तुष्ट हो जाता है कि मुझे इस शब्द के अर्थ का ज्ञान है। जप का तात्पर्य है कि अर्थ की भावना का चिन्तन 'जपस्तदर्थभावनम्'। वाल्मीकि के समक्ष जो अक्षर 'मरा' है, उसका कोई अर्थ नहीं है। जप में इसी शब्द के अर्थ का अन्वेषण करते हुए आरोपित अर्थ-विहीनता और वाल्मीकि का अविवेकी होना, उनकी सफलता का कारण बन गया। जब किसी व्यक्ति को बुद्धिमान् मानते हैं, तब इसका तात्पर्य यही है कि उसमें व्यावहारिक वस्तुओं का ज्ञान बहुत बढ़ा हुआ है। साधन के क्षेत्र में यही एक बड़ी बाधा है। क्योंकि इस बुद्धि से सत्य का दर्शन होना असम्भव है। अतएव बुद्धि को स्वच्छ करके समस्त व्यावहारिक संस्कारों से ऊपर उठना पड़ता है। इसी को समाधि और ऋतम्भरा प्रज्ञा कह सकते हैं। वाल्मीकि के लिए इन संस्कारों से ऊपर उठने का प्रश्न ही नहीं है। उनका विवेक इस सीमा तक शून्य है कि उन्हें अर्थ-ज्ञान का कोई भी संस्कार नहीं है। परिणाम यही हुआ कि जब भी उनके विवेक में अर्थ-ज्ञान की उपलब्धि हुई, वह अपने वास्तविक रूप में हुई। उसके लिए

ऋतम्भरा प्रज्ञा का मार्ग सहज था—

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना।।२/१६३/८
जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई। २/१२६/३

वाल्मीकि का आदि कवि होना, इसी अक्षर तत्त्व की खोज का परिणाम है। उन्होंने अर्थ की नयी परिपाटी का ज्ञान किया। अर्थ जड़ नहीं, स्वयं में चेतन है। उसके विषय में कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। वह (अर्थ) जब स्वयं को अभिव्यक्त करता है, तभी हम उसे पहचान सकते हैं। इनके जीवन में कविता का प्रादुर्भाव भी स्वयं ही हुआ। वे कविता के नहीं, उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम बने। प्रकृति में जो सहज गुण हैं, उन्हीं को आविष्कृत करके हम स्वयं काम में लाते हैं। प्रकृति में सूर्य के प्रकाश का उदय सहज है, तब हम घरों में विविध उपकरणों से प्रकाश व्यक्त करते हैं। प्रकृति जल, वायु सभी की यही स्थिति है। व्यावहारिक जीवन उनके बिना चलना सहज नहीं है। भक्त, साधना को महत्त्व न देकर, कृपा को महत्त्व देता है, इसके पीछे जो विचार की महत्ता है उसे बहुत कम लोग जान पाते हैं। घर में प्रकाश का मूल्य प्रतिदिन या प्रतिमास चुकाना पड़ता है, पर सूर्य के प्रकाश का हम क्या मूल्य चुकाते हैं ? घर में आने वाले जल का 'कर' देते हैं, पर मेघ की वर्षा स्वाभाव सिद्ध है।

बनायी हुई कविता प्रयास-जन्य है। गोस्वामीजी ने मानस के प्रारम्भ के दो प्रसंगों में इनके पार्थक्य पर प्रकाश डाला है। उन्होंने सरस्वती की कल्पना दो रूपों में किया—(१) ब्रह्मा की शक्ति, जो ब्रह्मलोक में निवास करती है और कवि के आमन्त्रण पर उन्हें दौड़ते हुए आना पड़ता है, वे श्रमित हो जाती हैं। (२) गोस्वामीजी उसे 'रामचरित सर में' स्नान कराने का अनुरोध करते हैं, तभी उनका श्रम शान्त होता है, और तभी वह अपना आयास धन्य मानेंगी।

यदि कवि ने प्रथम प्रकार वाली शारदा से 'प्राकृत-जन-गुन-गान' का कार्य लिया तो वह कविता, सरस्वती का मस्तक-धुनन ही होगा। मस्तक-धुनन में भी एक ताल होता है—'पश्चात्तापपूर्वक कराहते हुए स्वर में भी एक प्रकार की 'लय' होती है'। पर क्या उसे आप संगीत का नाम दे सकते हैं ? प्रथम प्रकार—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति थाई॥
 रामचरित सर बिनु अन्हवाएँ। सो स्रम जाइ न कोटि उपाएँ॥
 कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥

१/१०/४-५, ७

द्वितीय प्रकार का कवि राम का जन है, वह प्रयास नहीं करता, और यहाँ सरस्वती राम की कठपुतली हैं। राम उस जन के हृदय मन्दिर में कृपा करके उस दारु-नारि का नृत्य करा देते हैं, तब अनायास ही ताल-ध्वनि (संगीत) का सामरस्य जन में हो जाता है—

सारद दारुनारि सम स्वामी। रामु सूत्रधर अंतरजामी॥
 जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥

१/१०४/५-६

वाल्मीकि उन्हीं सौभाग्यशाली महापुरुषों में हैं, जिन्हें जन होने का सौभाग्य प्राप्त है। उनका उलटा नाम-जप और आदि कवित्व, एक ही शृंखला की दो कड़ियाँ हैं।

गणेशजी की कथा भी नाम-तत्त्व की महिमा पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती है। सर्वप्रथम कौन पूजित हो ? देवताओं के समक्ष जटिल प्रश्न था। विविध सद्गुणों के मूर्तिमान् रूप हैं देवता। सभी प्रथम पूजा का अधिकार चाहते हैं। अन्त में एक उपाय निश्चित किया गया 'जो समस्त ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके सर्वप्रथम लौट आयेगा' वही प्रथम पूजा का अधिकारी होगा। तब सभी देवता अपने-अपने तीव्रगामी वाहनों पर बैठकर परिक्रमा के लिए चल पड़ते हैं। इधर गणेश को देखिए ! आप 'विद्या वारिधि बुद्धि बिधाता' हैं, आपका वाहन 'मूषक' है, वह भी अत्यन्त मन्थर-गति वाला (वस्तुतः विचारक की गति मन्थर-गति ही होती है, वह प्रत्येक पग विचारपूर्वक रखता है)। देवताओं के तीव्रगति सम्पन्न वाहनों के समक्ष इस मूषक वाहन की क्या तुलना हो सकती थी ? फिर भी गणेश इस अभियान में सम्मिलित हुए। इसमें निहित सन्देश गम्भीर है। विचार के कारण यदि व्यक्ति क्रिया का परित्याग कर दे तो वह निष्क्रिय होकर तमोगुण में चला जायेगा। अतएव वह विचार की गति, मन्थर-गति होते हुए भी कर्तव्य पथ में आरुढ़ रखती है।

गणेशजी की यह यात्रा 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' का साक्षात् दृष्टान्त है। नारद बस दौड़ का आनन्द ले रहे हैं। अन्य देवता मार्ग में नारद को देखकर उनकी उपेक्षा कर देते हैं; क्योंकि देवताओं को लगता है कि इनसे वार्तालाप में जितना समय नष्ट होगा, उतने समय में न जाने कितनी दूरी पार कर लेंगे। यह प्रवृत्ति बहुधा प्रत्येक गुणवान् में दिखायी देती है, वे सन्तों की अवहेलना कर देते हैं। पर गणेश तो इस सुअवसर से लाभ उठाते हैं। नारद को देखकर गणेश वाहन से उतरकर प्रणाम करते हैं; तब नारद ही उन्हें 'राम नाम' की परिक्रमा करने की सम्मति देते हैं। परिणामतः गणेश प्रथम पूज्य हुए।

इस कथा का महत्त्व केवल इतना ही नहीं है कि उन्हें प्रथम पूजा प्राप्त होती है। क्या नारद ने जो सम्मति गणेश को दी, उसे अन्य देवता स्वीकार कर सकते थे ? वस्तुतः यह विश्वास करना देवताओं के लिए असम्भव था कि 'राम-नाम में ही समस्त ब्रह्माण्ड निहित है'। अन्य देवता स्थूलदर्शी हैं, वे आज्ञा को स्थूल अर्थों में लेते हैं। पिता ने कहा-वटवृक्ष उठा लाओ, सुनकर स्थूल बुद्धि का पुत्र, उस वृक्ष को जड़ से उखाड़ने की चेष्टा करेगा, समग्र वृक्ष तो उठा लाना असम्भव है; अतएव उसके कुछ शाखा-पत्र लेकर चला आवेगा। योग्य पुत्र मुड़ी में (बीज के रूप से) वटवृक्ष को उठा लाता है।

समस्त विश्व की परिक्रमा और प्रथम-पूज्य से क्या सम्बन्ध है ? उसमें निहित संकेत यही था कि प्रत्येक गुण 'अत्पांश' का ही ज्ञाता है। प्रथम पूज्य के लिए 'सर्वज्ञान' अपेक्षित है। भौतिक ज्ञान की दृष्टि से एक व्यक्ति वाहन पर बैठकर समस्त विश्व की एक परिक्रमा करके आ सकता है। दूसरा व्यक्ति एक अक्षर ज्ञान के सहारे ग्रन्थ के रूप में विश्व का अध्ययन करके बिना कहीं गये हुए अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। पारमार्थिक रूप में अक्षर-तत्त्व को समझ लेने का तात्पर्य, सृष्टि के मूल रहस्य को जान लेना है। गणेश के इस विवेक का परिचय ही उनकी प्रथम-पूजा का कारण है।



रूप-साधना

मानस में गोस्वामीजी ने राम-सौन्दर्य के मंत्र-तंत्र एवं अनेक चित्र अंकित किये हैं। मनुष्यों की तो क्या बात, पशु-पक्षी भी उसे देखकर मुग्ध हैं। इसप्रकार वे हमारी पार्थिव रूप शक्ति की भावना को शुद्ध भावना के स्तर तक पहुँचा देना चाहते हैं। पार्थिव सौन्दर्य का आकर्षण हमें क्रमशः नीचे की ओर ले जाता है, जिससे हम अपना स्वयं और सौन्दर्य दोनों का ही विनाश कर लेते हैं। एक सुरभित सुरूप पुष्प, वाटिका में हमें अपनी ओर आकृष्ट करता है। तत्काल ही उसे समीप में लाने की आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है, निष्ठुरता से उसे डाली से पृथक् करके हम अपने नेत्र और नासिका को क्षणिक तृप्ति देते हैं, थोड़ी देर में पुष्प अपना सौन्दर्य और सौरभ खो बैठता है, तब उसे धूल में फेंककर पैर से रौंदते हुए हम चल पड़ते हैं। यही बात बार-बार दुहरायी जाती है।

राम का सौन्दर्य इससे भिन्न है। ऊपर जिस सौन्दर्य की चर्चा की गयी, वह अनंग (काम) का रूप है। राम और काम दोनों ही सदृशता रखने वाले, फिर भी कितने पृथक्-पृथक् हैं। राम और काम दोनों के वर्ण समान हैं, सुन्दर हैं, धनुष-बाणधारी हैं, पर दोनों एक साथ नहीं रह सकते—

जहाँ राम तहाँ काम नहीं जहाँ काम नहीं राम।

तुलसी कबहुँ न रहि सकैं रवि रजनी एक ठाम ॥

भगवान् शिव के हृदय में राम का निवास है, तब वे काम-रिपु हैं। वस्तुतः भगवान् शिव ही राम और काम के सौन्दर्य की कसौटी हैं। प्रलय और संहार के देवता ही नित्यता और अनित्यता का भेद कर सकते हैं। काम को उन्होंने अपने तृतीय नेत्र से देख लिया तो वह क्षण भर में राख की ढ़ेरी बन गया। प्रत्येक काम मूलक सौन्दर्य की अन्तिम परिणति यही है। राम के भी

विलक्षण सौन्दर्य को भगवान् शिव ने 'विदेह-नगर' में देखा। विदेह-नगर तत्त्वज्ञों का नगर है, जहाँ की मान्यता में रूप अनित्य है। पर राम क्या आये, सारी धारणा ही बदल गयी। अब वहाँ रूप की ही चर्चा चलती है। इसीलिए जानकीजी की एक सखी ने इस आश्चर्य की ओर संकेत करते हुए प्रभुदर्शन के लिए जानकी को प्रेरित किया—

बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिअहिं देखन जोगू॥

१/२२८/६

हाँ ! तो भगवान् शिव ने भी देखा, वे राम के दिव्य रूप के अनुराग रस में डूबकर स्वयं कृतकृत्य हो गये।

वस्तुतः काम के सौन्दर्य की अनुभूति अभाव के मनोविज्ञान का परिणाम है। एक व्यक्ति को तीव्र क्षुधा लगी हुई हो, उस समय उसे जो भी भोजन दे दिया जायेगा, उसे रुचिकर और स्वादिष्ट लगेगा। पर क्षुधा शान्त होते ही जिसे स्वादिष्ट कहा जाता है, वह भोजन भी अरुचि उत्पन्न करता है। काम की प्रणाली सर्वत्र यही है। काम का अर्थ ही है, अभाव का अनुभव। जिसे हम कामसौन्दर्य कहते हैं; वह वस्तुतः हमारे अभाव और आकांक्षा के कारण वैसा लगता है। पर जिन्हें हम 'राम' कहते हैं; उनका सौन्दर्य व्यक्ति में अभाव का नहीं पूर्णता का उदय करता है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

३/३५/६

पूर्णता के पश्चात् भी व्यक्ति को 'राम का सौन्दर्य' आकर्षक लगता है। यही उनके सौन्दर्य की पूर्णता का प्रमाण है। इसीलिए मानस में ऐसे पात्रों द्वारा राम के सौन्दर्य की महत्ता का दर्शन कराया गया है जो जनकपुर और विवाह प्रसंग में बार-बार वर्णित है। बाह्य दृष्टि से भी यह बड़ा स्वाभाविक और सजीव वर्णन है। क्योंकि दुलहे के सौन्दर्य पर पहले दृष्टि जाती है। मानस के अन्तरंग दर्शन के अनुकूल सौन्दर्य की वास्तविक महत्ता, विदेहपुर-वासियों को आकृष्ट कर लेने में ही है, वे ही तो सर्वत्र आकृष्ट होते रहते हैं। पर सहज विरागी विदेह भी इसे देखकर अपनी निष्ठा का परित्याग कर देते हैं, वे विश्वामित्र से पूछ ही बैठते हैं—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा । उभय बेषधरि की सोइ आवा ॥
 सहज बिराग रूप मनु मोरा । थकित होत जिमि चन्द चकोरा ॥
 ताते प्रभु पूँछउ सतिभाऊ । कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥
 इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा ॥

१/२१५/२-५

विदेह सोचते हैं और ठीक ही सोचते हैं कि यह व्यक्ति का सौन्दर्य नहीं है। ब्रह्म ही इस नवीन वेष में आकर आन्तरिक अनुभव में ही नहीं प्रत्यक्ष भी दिखायी दे रहा है। मानस के अन्तिम सोपान में सनकादिकों की भी इस स्थिति का वर्णन किया गया है, जहाँ वे चाहकर भी मन को नहीं हटा पा रहे हैं—

मुनि रघुपति छवि अतुल बिलोकी । भए मगन मन सके न रोकी ॥
 एकटक रहे निमेष न लावहिं । प्रभु कर जोरें सीस नवावहिं ॥

७/३२/२-४

इस प्रसंग में निहित भावना को समझने के लिए गोस्वामीजी के 'मोह न नारि नारि केँ रूपा' पंक्ति का भाव हृदयंगम कर लेना चाहिए। साधारण अर्थों में काग ने इसे निम्नभावों में कहा था। ज्ञान-वैराग्य आदि पुरुष हैं और भक्ति है स्त्री। संसार में बाँधने वाली अविधा (माया) भी स्त्री ही है। स्त्री, पुरुष पर मोहित होती है, न कि स्त्री पर। अतएव माया, ज्ञान-वैराग्य आदि पुरुष संज्ञक गुणों को स्ववश में करने की चेष्टा करती है, भक्ति को नहीं—

ग्यान बिराग जोग बिग्याना । ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना ॥
 पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती । अबला अबल सहज जड़ जाती ॥
 पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मति धीर ।
 न तु कामी बिषयाबस बिमुख जो पद रघुबीर ॥
 सोउ मुनि ग्याननिधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि ।
 बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट ॥
 इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ । बेद पुरान संत मत भाषउँ ॥
 मोह न नारि नारि केँ रूपा । पन्नगारि यह रीति अनूपा ॥
 माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ । नारि बर्ग जानइ सब कोऊ ॥

७/११४/१५

साधारणतया सारी बातें अटपटी लगती हैं। एक बार एक विद्वान् ने मुझसे कहा कि ज्ञान एवं भक्ति के अन्तर को केवल व्याकरण लिंग-भेद के आधार पर देना, गोस्वामीजी जैसे महापुरुष को शोभा नहीं देता। ऊपर से उनकी युक्ति में यथार्थ बल दिखायी देता है। पर काग के वाक्य में निहित मर्म को समझ लेने पर उपर्युक्त सिद्धान्त की गम्भीरता और यथार्थता स्पष्ट हो जाती है। स्त्री, स्त्री के सौन्दर्य पर मोहित नहीं होती, इसका तात्पर्य क्या है ? बहुधा स्त्रियाँ, स्त्रियों के सौन्दर्य की सराहना करती हैं। यहाँ मोह से वासना मूलक मोह का अभिप्राय है। व्यक्ति वासनात्मक रूप में आकर्षण विपरीत लिंग में पाता है। क्योंकि स्वयं में जिसका अभाव है, वह वस्तु अत्यधिक आकर्षक प्रतीत होती है। माया स्त्री है; और ज्ञान पुरुष है, फिर भी माया के पास ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनका ज्ञान में अभाव है। दृष्टान्त के रूप में 'सौन्दर्य' को ही लीजिए ! ज्ञानी रूप को मिथ्या मानता है, रूप की ओर देखना अस्वीकार कर देता है, पर जब मायिक सौन्दर्य अपनी पूर्ण चमक से सामने आता है, तब ज्ञान भी मन में विवशता का अनुभव करता है। ज्ञान भी इस जाल में आबद्ध हो जाता है। भक्ति स्त्री है; और माया के पास जो वस्तुएँ हैं उसके प्रत्युत्तर में उससे कोटि गुणित चमक के साथ भक्ति देवी के पास भी हैं। यदि वह (माया) रूप का आकर्षण दिखाती तो यहाँ (भक्ति में) अनन्त दिव्य रूप है। तब यहाँ भक्ति में वस्तु की अस्वीकृति के द्वारा बचने की कोई इच्छा नहीं है। अतएव माया भक्ति के सामने देखने में संकुचित होती है।

इस पृष्ठभूमि में सनकादिकों की स्थिति पर ध्यान दें। वे तत्त्वज्ञ हैं, ज्ञानी हैं, मन-नेत्र को विषयों के मिथ्यात्व का निश्चय कराते हुए विषयों से विरत रखते हैं। किन्तु मन-नेत्र के लिए स्वयं यह स्थिति सर्वथा अस्वाभाविक है। किसी को आप भोजन की बुराई बताकर भोजन से कब तक विरत रख सकते हैं। ऐसी स्थिति में कभी-कभी व्यक्ति जो भी मिलता है, उसे ही खाकर क्षुधा शान्त करने की चेष्टा करता है। सनकादिक मन-नेत्र पर पूर्ण अधिकार रख कभी भी विषयाभिमुख नहीं हो पाये। पर आज उनके समक्ष प्रभु का दिव्य रूप है, तब वे मन-नेत्र विद्रोही होकर प्रभु के सौन्दर्य-रस का पान करने लगते हैं।

इसी को गोस्वामीजी ने 'मन सके न रोकी' कहकर स्मरण किया।

भगवद्‌रूप के मायिक होने का भी प्रश्न उठाया जाता है। वैसे यह प्रश्न जटिलताओं से भरा है। मायिक से कहने वाले का क्या तात्पर्य है ? यह बहुत कुछ इस व्याख्या पर निर्भर है। यों तो गोस्वामीजी भी उन्हें 'मायामनुष्यं हरिम्' कहते हैं। अन्यत्र भी उन्हें 'लीला-तनु' बताया गया है। फिर भी भगवान्‌ के रूप को गोस्वामीजी नित्य मानते हैं। आवरण की आवृतता तो तभी है; जब हम उनके भगवद्‌रूप को भूलकर एक व्यक्ति मात्र मान लें। यहाँ माया-मनुष्य होने पर भी माया द्वारा उत्पन्न होने वाले परिणामों से प्रभु निम्न कारणों से रहित हैं—(१) माया का आवरण प्रभु द्वारा स्व-कृत है। (२) आवरण, लीला-रस की वृद्धि करता है। किन्तु भक्त को उस रूप की अनन्तता का भास बना रहता है। (३) ब्रह्म से रूप को अभिन्न देखने पर वह मायिक रह ही नहीं जाता। क्योंकि माया स्वयं में पृथक् सत्य नहीं है, वह तो जड़ वस्तुओं में सत्यत्व की भ्रान्ति द्वारा अपनी सत्ता को प्रमाणित करती है। स्वयं माया की प्रतीति ब्रह्म की सत्ता के कारण है। अब माया को ब्रह्म से अपृथक् देखते हैं; तो स्वयं में अन्य कुछ रह ही नहीं जाता।

भक्त की दृष्टि में रूप, नित्य-सत्य है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि यह रूप भक्त के नेत्र की आकांक्षा का परिणाम है। उसके समक्ष एक रूप में होने पर भी भक्त को व्यापकता का ज्ञान है। लोकदृष्टि से आवरण होने पर भी स्वयं भक्त के लिए आवरण का अभाव है। आवरण का कार्य वस्तु को ढँक लेना है; किन्तु जहाँ वस्तु दिख रही है, उसे आवरण का नाम मात्र दे सकते हैं। काग की भगवान्‌ के बालरूप राम के विषय में बड़ी ही मधुर कल्पना है। माँ ने राघवेन्द्र का शृंगार किया और पीतवर्ण की झँगुली को धारण कराया—

पीत झीनि झंगुली तनु सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही॥

७/७६/७

पीत शब्द के साथ 'झीनि' शब्द, रसपूर्ण और मधुर संकेत से पूर्ण है। वस्त्र के झीने होने पर एक प्रकार की झिलमिलाहट में नवीन रंग की अनुभूति

होती है। वस्त्र है, पर वह सौन्दर्य को सर्वथा छिपा नहीं लेता। दर्शन और आवरण का एक साथ आनन्द प्राप्त हो जाता है। भक्त की शैली यही है। ब्रह्म का नीलवर्ण उसकी निराकारता का भी सूचक है। आकाश को निराकारता के दृष्टान्त में प्रयुक्त किया जाता है। फिर भी वह (आकाश) हमें नील वर्ण का ही दिखायी देता है। पीत रंग का वस्त्र उनकी माया (आवरण) का प्रतीक है। नील-पीत मिलकर हरा रंग हो जाता है। भक्त इस सौन्दर्य को देखकर हरा-भरा हो जाता है। काग के 'झीनि' शब्द से भक्ति-दर्शन का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है।

मानस में 'रूप-वर्णन' केवल आकृति की रूपरेखा बताने के लिए नहीं है। इस उद्देश्य के लिए दो-चार चित्र ही उपयुक्त होते। बाल, दुलहा, वनवासी, योद्धा, राजा आदि के रूप में चित्रण कर देने से कार्य पूरा हो जाता। कई लोगों को लगता है कि मानस में 'रूप-वर्णन' अतिरेक पर है। किन्तु मानस के उद्देश्य और प्रत्येक चित्र की अपनी विशेषताओं पर ध्यान देने वाला भक्त किसी अन्य निष्कर्ष पर पहुँचेगा। ध्यान रखना चाहिए कि मानस में राम का परिचय इतिहास के एक पात्र की भाँति नहीं है।

पूर्व में कहा जा चुका है कि सगुण लीला में गोस्वामीजी जल की उस स्वच्छता को बताते हैं; जिसमें स्नान करके भक्त स्वच्छ हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ 'रूप-वर्णन' का उद्देश्य अन्तःकरण को स्वच्छ बनाना है। मानस के राम 'ध्येय' हैं। ध्यान की विशिष्ट पद्धति से हृदय-निर्माण की प्रक्रिया के लिए उनकी अनेक झाँकियों का चित्रण किया गया है।

ध्यान का अभिप्राय क्या है ? सरल अर्थों में ध्यान को 'चिन्तन' कह लीजिए! मन का किसी विशिष्ट वस्तु का चिन्तन करते हुए तदाकार हो जाना, ध्यान है। व्यक्ति जिस वस्तु का ध्यान करता है, उसे ही पाना चाहता है। गीता में इस क्रम का उल्लेख है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सं स्तेषूपजायते।

सात् सज्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ गीता-२/६२-६३

ध्यान से नाश तक के क्रम का इसमें बड़ा समुचित वर्णन है। योगियों ने इसका निष्कर्ष निकाला कि मन को निर्विषयी बनाने के लिए 'प्रभु ध्यान की' पद्धति का आश्रय लिया जाय। अभ्यास मात्र के लिए किसी वस्तु का आश्रय स्वीकार किया जाता है। भक्ति-पथ में मन को भगवद्रूपाकार बनाने की चेष्टा की जाती है।



धाम-साधना

किसी भी विशिष्ट व्यक्ति के जन्म स्थान को आदर दिया जाता है। व्यक्ति के साथ देश-काल का कम महत्त्व नहीं है। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति ही सक्रिय दिखायी देता है। फिर भी प्रेरक रूपों में देश-काल की शक्ति भी कार्य करती है। जब ब्रह्म के अवतरण की स्वीकृति दी जाती है, तब उस देश काल के सौभाग्य का क्या कहना ! गोस्वामीजी ने उल्लेख किया-

राम धामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित अति पावनि॥

१/३४/३

नाम, रूप, लीला की अपेक्षा धाम का वर्णन कम होने पर उसकी उत्कृष्टता में अन्तर नहीं आता। धाम की महिमा का संक्षेपीकरण, सम्भवतः समाज की तत्कालीन परिस्थिति के कारण था। नाम, रूप एवं लीला ऐसी वस्तुएँ हैं; जिसमें व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र है। वह स्वयं नाम ले सकता है, रूप का चिन्तन कर सकता है, लीला का पाठ कर सकता है। पर धाम तो बाह्यदृष्टि से एक स्थूल देश है, वहाँ के सारे वातावरण से पृथक् रहकर व्यक्ति श्रद्धा बना सके, यह विरले व्यक्तियों के लिए ही सम्भव है। गोस्वामीजी के काल में एक ओर तो ऐसा शासन था; जिसमें तीर्थों की स्थिति बड़ी संदिग्ध और आतंक के बीच चल रही थी। दूसरी ओर वहाँ के निवासियों का चरित्र भी सम्भवतः इतना गिरा हुआ था कि गोस्वामीजी को अपनी दोहावली में यह लिखना पड़ा कि अन्यत्र तो कलियुग के सैनिक राज्य चलाते हैं, किन्तु तीर्थों में स्वयं कलियुग ही शासन कर रहा है-

मनहुँ मवा से मारि कलि राजत सहित समाज। दोहा.-५५८

अधिकारी श्रद्धालु को छोड़कर अन्य को 'धाम-निष्ठ' होना, एक कठिन कार्य था। फिर भी सैद्धान्तिक दृष्टि से धाम की पूर्णता में सन्देह भी क्या हो

सकता है? तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्माण्ड के कण-कण में ही 'वह तत्त्व' व्याप्त है। फिर भी जब हम उसका विशिष्ट काल और एक व्यक्ति के घर में अवतरण स्वीकार करते हैं, तब पहले विशिष्ट देश में उसका अवतरण स्वीकार करना भी अपेक्षित ही है। गाय के शरीर में व्याप्त दुग्ध स्तन के माध्यम से प्रकट किया जाता है। धाम वह केन्द्र है, जहाँ उन्हें आज से पूर्व किसी ने प्रकट किया है। व्यक्ति के लिए वहाँ अपनी साधना को केन्द्रित करना सरल है। व्यक्ति का भाव, निरपेक्ष वस्तु नहीं है; उसके निर्माण के लिए अनेक सहायक वस्तुओं की (वातावरण की) अपेक्षा होती है। गोस्वामीजी ने प्रस्तर-प्रतिमा के पूजन का भी यही मनोविज्ञान बताया। कवितावली में बड़ी ही भावात्मक पद्धति में इसका उल्लेख किया गया है-

काढ़ि कृपान, कृपा न कहूँ, पितु काल कराल बिलोकि न भागे।
 राम कहाँ ? सब ठाऊँ हैं, खंभ में ? हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे ॥
 बैरी बिदारि भए बिकराल, कहे प्रह्लादहि के अनुरागे।
 प्रीति-प्रतीति बड़ी तुलसी, तबतैं सब पाहन पूजन लागे ॥

कवि.-७/१२८

गोस्वामीजी से पूर्व, नाथ पंथी साधुओं का (निर्गुण-निराकार वादियों का) बड़ा बोलबाला था। ईश्वर के अन्तर्यामित्व का उल्लेख किया जाता था। बाह्य पूजा-पाठ आदि का विरोध किया जाता था। जीवन को समग्ररूप में अस्वीकार करके एक अंग पर ही बल देना गोस्वामीजी को अभीष्ट नहीं था। केवल अन्तर्यामी का वर्णन समाज को निष्क्रिय और तमोगुणी बनाने वाली प्रवृत्ति की बहिर्मुखता को दृष्टिगत रखकर ही किया जाता है। अन्तर्यामी मात्र मान लेने से पूजा-पाठ छोड़ देने से व्यक्ति कौन-सी शान्ति पा लेता है। हाँ ! व्यक्ति अन्तर्यामी को समझ नहीं पाता, और बाहर अस्वीकार कर देता है; दोनों ओर से मारा गया। व्यक्ति की आस्था तोड़ना सहज है; पर उसके स्थान पर नयी आस्था, नया विश्वास जमा देना अत्यधिक कठिन है। सच पूछिए तो अन्तर्यामी, अनुभव करने की वस्तु है और यदि भोजन की भाँति मान लें तो बहिर्यामी को वस्त्र की भाँति मानना पड़ेगा। तभी स्वस्थता (सुख) की अनुभूति होगी।

इसीलिए गोस्वामीजी ने एक अलख-अलख चिल्लाने वाले साधु को फटकारा-

हम लखि लखहि हमार लखि, हम हमार के बीच ।

तुलसी अलखहि का लखहि, राम-नाम जप नीच ।। दोहा.-१६

‘अलख-अलख’ चिल्लाकर तो व्यक्ति अलख को लखा नहीं सकता। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि, इस शब्द को चिल्ला करके अपने को लखाता फिरे। वस्तुतः उस समय हुआ भी यही। ईश्वर ‘अलख’ था, उसे देखना असम्भव था और व्यक्ति में लखने की ऐसी ‘चाह’ थी कि उसे कुछ ‘अलख’ के स्थान पर चाहिए था; तब अधिकांश सम्प्रदायों को वह (ईश्वर) स्थान ‘गुरु के शरीर को’ मिल गया। अलख की पुकार से अपने लिए वह गद्दी सुरक्षित हो गयी। इस प्रकार शुद्ध ‘अहं’ की पूजा का निरर्थकता हो गयी। गोस्वामीजी ने उस परिस्थिति का संकेत किया-

जे मुनि ते पुनि आपुहि आपको ईस कहावत सिद्ध सयाने ।

कवितावली-७/१०५

मानस में भी गुरु का महत्त्व है। उसे भगवान् से भी बड़ा स्वीकार किया गया। पर इसी उद्देश्य को ही दृष्टिगत रखकर कि यदि वह गुरु, प्रभु से मिलाने वाला है। गुरु प्रभु का स्थान कदापि नहीं ले सकता। एक वाक्य देखिए-

तुम्हें अधिक गुरुहिं जियँ जानी । सकल भायँ सेवहिं सनमानी ।।

२/१२८/८

अब दूसरा वाक्य त्रिभुवन गुरु भगवान् शिव स्वयं कहते हैं-

उमा राम सम हित जग माहीं । गुरु पितु मातु बन्धु प्रभु नाहीं ।।

४/११/१

मानस का यही समन्वय है। गुरु को साधक मार्ग-दर्शन के नाते कृतज्ञता के कारण प्रभु से बड़ा कहता है। पर स्वयं गुरु, प्रभु को ही बड़ा बताता है। इसीलिए यदि ऐसा अवसर आ जाय कि गुरु इष्ट का विरोध करे तो गुरु भी परित्याग कर देने योग्य है। मार्ग-निर्देश में गुरु भगवान् से बड़ा है। पर इष्ट के परिवर्तन का अधिकार गुरु को भी नहीं है। ‘विनय-पत्रिका’ में उल्लेख किया गया-

तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बन्धु, भरत महतारी।
बलि गुरु, तज्यो, कन्त ब्रजबनितन्हि, भये मुद मंगलकारी॥

वि.प.-१७४/२

गोस्वामीजी इस अन्तर्यामी-प्रचार का खोखलापन समझ चुके थे; और उन्होंने कहा-

अन्तरजामिहूँ तें बड़, बाहरजामि हैं राम, जे नाम लिएतें।
धावत धेनु पन्हाई लवाइ ज्यों बालक-बोलनि कान किए तैं॥

कवितावली-७/१२६

सैद्धान्तिक दृष्टि से गोस्वामीजी को अन्तर्यामी और बहिर्यामी दोनों स्वीकार हैं। यह उत्तर तो अन्तर्यामित्व के आग्रही लोगों के प्रत्युत्तर में है। अपने हृदय को वे 'मम हृदय भवन प्रभु तोरा' कहकर स्मरण करते हैं। सभी भक्त भगवान् से हृदय में रहने का अनुरोध करते हैं। वस्तुतः यह बड़ा ही भाव-पूर्ण संकेत है। बाह्य जीवन में जो वस्तु नेत्र को प्रिय लग जाती है, वह मन को सहज ही आकृष्ट कर लेती है। हृदय में 'बस' जाती है। तात्त्विक रूप से ब्रह्म अन्तर्यामी के रूप में रहता अवश्य है, पर उसकी उपस्थिति का जीव को कोई भास नहीं। उस प्रकार के रहने से व्यक्ति को कोई रसानुभूति नहीं होती। यदि उसकी उपस्थिति को रसमय बनाना है तो प्रभु को भी उस मार्ग से आना चाहिए; जिस पथ से अन्य भौतिक 'सौन्दर्य' आकर हृदय पर अधिकार कर लेते हैं। देखिए ! पुष्पवटिका में जानकीजी को-

लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥

१/२३१/७

एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बर बानी॥

२/११३/८

प्रगटे रामु कृतग्य कृपाला। १/७५/५

संकर सोइ मूरति उर राखी। १/७६/७

अन्तर्बाह्य दोनों स्थलों पर उसे देख पाना ही जीवन की पूर्णता है। व्यक्ति को अपने जीवन का अधिकांश-काल, भौतिक कहे जाने वाले संसार में ही

व्यतीत करना पड़ता है। बाह्य में प्रभु को न देख पाना, एक और व्यवहार में उपेक्षा उत्पन्न कर देगा।

प्रह्लाद-द्वारा प्रस्तर स्तम्भ से भगवान् को प्रकट करना, ईश्वर की सर्व-व्यापकता का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण था। धाम के रूप में 'अयोध्या' 'गुरु मन' सर्वत्र प्रस्तर-प्रतिमाएँ आदि हैं। धाम का तात्पर्य भी अपने मन को भावना युक्त बनाने का उत्कृष्ट केन्द्र है। साथ ही धाम रूप में परिवर्तित करने के लिए साधक अपने को प्रस्तुत कर सकता है।

जब हम कहते हैं कि अयोध्या, चित्रकूट, पंचवटी, प्रवर्षण शैल आदि या कोई एक प्रभु के धाम हैं; तब उस समय 'धाम' की विशेषताओं का चित्र हमारे समक्ष आ जाता है; यही हृदय के निर्माण की उपयुक्त पद्धति है। हृदय की रुचियों और निर्माण में भेद स्वाभाविक है, अतएव विविध प्रकार के धामों की भी आवश्यकता है। वाल्मीकि ने राम-निवास के लिए चौदह प्रकार के भक्तों के हृदयों को उपयुक्त धाम बताया, उसमें भी यही सन्देश निहित है।

राघवेन्द्र के वन-निष्कासन में बाह्य कारण जो भी हों, किन्तु साधना की दृष्टि से उनका वन-गमन का उद्देश्य यही बताता है कि स्वयं राम आवास के लिए उपयुक्त स्थान ढूँढ़ रहे हैं। अब आमन्त्रण देना जीव का कार्य है। वे नगर और वन दोनों में ही रह सकते हैं। स्वर्ण और मणिमय अट्टालिकाओं के साथ ही उन्हें पर्णकुटी भी प्रिय है। मणिमय भवन, गिरिगुहा, पर्णकुटी, शिशुपातरु, पञ्चवटी, ये सब अन्तःकरण के ही भेद हैं। अयोध्या की सराहना करते हुए प्रभु ने उसे वैकुण्ठ से भी अधिक प्रिय बताया-

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥
जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा॥
जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। बेदपुरान बिदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥

७/३/५-६, ३-४

अवध, जन्म-भूमि है। ब्रह्म का जन्म ! असम्भव की सम्भावना जिस भूमि में चरितार्थ हुई वह वैकुण्ठ नित्य-धाम हो सकता है; जहाँ नारायण अपनी

महिमा में स्थित हैं; और साधक (भक्त) पर रीझकर उसे अनन्त काल के लिए दिव्य धाम में आवास दे देते हैं। अयोध्या जीव का धाम है। जीव ने अपने प्रिय सखा को वहाँ आमन्त्रित किया। वे आये, जीव-संग हँसे, खेले, रोये, विजयी बने, पराजित हुए। उस दिव्य अचिन्त्य एकरस धाम में वह रसानुभूति कहाँ ? जो अयोध्या के नित नव-रस परिवर्तन में है। वह मैत्री ही क्या ? जहाँ एक मित्र अपने घर में अपने मित्र को बुलावे और प्रतिदान में उसे मित्र आमन्त्रित न करे ! वैकुण्ठ तो उनका स्वयं का घर है, किन्तु अयोध्या का घर, मित्र-महल है, जिसे जीव ने अपने 'समग्र मैं के साथ' अर्पित कर दिया। इसमें मित्र (जीव) का स्नेह है कि उसे स्वीकारकर प्रभु अपना निजी धाम बना लें। तब मित्र का घर इतना भा गया कि प्रभु अपना घर भूल गये ! स्वाभाविक ही था, वहाँ है कौन ? स्वयं ही वहाँ के स्वामी हैं, अतएव जीवगृह में ही प्रभु को सबका सत्कार करना होता है। अवध की भाँति कहाँ हैं माता कौसल्या ? जो गोदी में खिलावें, अमृत-पान करावें (ब्रह्म भी भूख-प्यास का अनुभव करे)। स्नेहिल पिता दशरथ वैकुण्ठ में कहाँ ? जो राम के मचल पड़ने पर चन्द्र-खिलौना देने का कौतुक करें-

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
 कबहूँ कर ताल बजाइ कै नाचत मातु सबै मन मोद भरैं॥
 कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
 अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मन्दिर में बिहरैं॥

कवितावली १/४

वस्तुतः अवध में प्रभु को आमन्त्रित करने के लिए दशरथ-कौसल्या के हृदय की अपेक्षा है। महाराज दशरथ धर्म-धुरन्धर हैं-‘राम प्रेम पूरित धर्म’। (क्योंकि मानस में प्रेम-विहीन धर्म का कोई स्थान नहीं)। मनु के रूप में भी उनके लिए यह उपाधि सर्वथा उपयुक्त है। उनके लिए ‘राम-प्राप्ति’, धर्म के सम्यक् रूप से पालन का अन्तिम परिणाम है। इसीलिए गोस्वामीजी ने अपनी प्रवृत्ति के विरुद्ध, मनु का परिचय बड़े विस्तार से दिया-

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह तैं भै नरसृष्टि अनूपा॥
 दंपति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका॥

नृप उत्तानपाद सुत तासू। ध्रुव हरि भगत भयउ सुत जासू॥
लघु सुत नाम प्रियव्रत ताही। बेद पुरान प्रसंसहिं जाही॥
देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी॥
आदिदेव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहिं कपिल कृपाला॥
सांख्य सास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्व बिचार निपुन भगवाना॥
तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला॥

१/१४१/१-८

इतने विस्तार से वंश-परिचय का भी एक विशिष्ट उद्देश्य है। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि गोस्वामीजी की शैली में इसप्रकार के परिचय का अन्य कोई स्थान नहीं है। मानस में यह अपने प्रकार का अकेला वर्णन है।

बाह्य अभाव ही नहीं, पूर्णता में भी भगवत्प्राप्ति की आकांक्षा हृदय की वास्तविक प्यास है; वरन यह कहना अधिक युक्ति-संगत होगा कि कर्म की वास्तविक परिणति भक्ति में ही है। कर्म जीवन की माँग है, उसे करना ही होगा, इसकी अस्वीकृति से कोई लाभ नहीं। उसे समुचित रीति से पूर्ण करना, योग्य व्यक्ति का कर्तव्य है। मनु, मानव जाति के आदि पुरुष हैं। मनु ने स्वयं के जीवन में उस कर्तव्य कर्म का समुचित निर्वाह किया; जिसे गोस्वामीजी ने 'प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला' के रूप में उल्लेख किया है। फिर भी कर्म जीवन का साध्य नहीं हो सकता। मानव मन में सबसे उत्कट आकांक्षा स्वातन्त्र्य की है। कर्म सीमा में बँधा हुआ है। मनु का जीवन इसका साक्षी है कि, कर्म की पूर्ण सफलता के पश्चात् भी अनेक व्यक्तियों ने भगवत्प्राप्ति की सफलता पायी। किन्तु धर्म का फल विषयों से विरत होना है। मनु के जीवन में इसी क्रम का संकेत किया गया है-

प्रथमहिं बिप्र चरन अतिप्रीती। निज निज कर्म निरत स्रुति रीती॥

३/१५/६

होइ न विषय विराग भवन बसत भा चौथपन।

हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥ १/१४२

पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा। हरषि नहाने निरमल नीरा॥

आए मिलन सिद्ध मुनि ग्यानी। धरम धुरंधर नृपरिषि जानी॥

जहँ तहँ तीरथ रहे सुहाए। मुनिन्ह सकल सादर करवाए॥
 कृस सरीर मुनिपट परिधाना। सत समाज नित सुनिहिं पुराना॥
 द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
 बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥
 करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥
 पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि आधार मूल फल त्यागे॥
 उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥

१/१४२/५ से

इस प्रकार से मनु के जीवन का क्रम चलते-चलते 'देखिय नयन परम प्रभु सोई' पर स्थिर हुआ। यहाँ तक साधना के क्रमिक विकास का दिग्दर्शन है। यह वैधी-भक्ति का श्रेष्ठ क्रम है। धीरे-धीरे अपने मन को विषयों से हटाकर प्रभु की ओर अभिमुख करते हैं। तीर्थयात्रा, पुराण-श्रवण, जप, फलाहार, तप, निरन्तर अभिलाषा क्रम से भक्ति के सोपान हैं। बहुकाल अर्थात् २८००० वर्ष कठोर साधना के पश्चात् ६००० वर्ष वारि-आधार, ७००० वर्ष वायु-आधार, १०००० वर्ष वायु-आधार का त्याग और एक पग खड़े रहना, शेष ५००० वर्ष, वारि-आधार के पूर्व तीर्थयात्रा, पुराण-श्रवण, जप, फलाहार वाले होंगे, उन्हें (मनु को) राम-दर्शन होता है। वरदान के रूप में वे भगवान के पुत्ररूप को देखने की अभिलाषा प्रकट करते हैं। जीवन में ज्ञान-भक्ति का समन्वय होने पर भी वे 'मूलतः धर्म धुरन्धर' हैं। वरदान देने के पश्चात् प्रभु उन्हें 'स्वर्ग में निवास करके विशाल भोग भोगने के पश्चात् ही दशरथ रूप में जन्म लेने का' आदेश देते हैं-

अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी॥

तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल पुनि।

होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत॥ १/१५०/८से
 दशरथ रूप में जन्म लेने पर उनकी प्रशंसा का पहला वाक्य यही है-
 धरम धुरंधर गुननिधि ग्यानी। हृदयँ भगति मति सारँगपानी॥

१/१८७/८

द्वितीय जन्म में दशरथ रूप में भी साधनक्रम का उल्लेख है। वृद्धावस्था में इन्हें पुत्र का अभाव खलता है। तब वे एक दिन गुरु-चरणों में नमन करते हैं। वे पुत्रेष्टि यज्ञ की पद्धति से प्रभु को पुत्र रूप में प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करते हैं। प्रभु का अवतार प्रारम्भ में धर्म-भूमि अयोध्या में होता है। स्वर्णनिर्मित-भवन, राज-पथ, उपवन आदि सभी धर्म के ही सुव्यवस्थित रूप को प्रकट करते हैं। प्रभु भी अयोध्या में बड़ी विलक्षण लीलाएँ सम्पन्न करते हैं। एक बालक के समान ही प्रभु में कौतुक और क्रीड़ा है। विद्या-प्राप्ति का प्रयास है। शिष्टता और मर्यादा का पालन है-

प्रातःकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पितु गुरु नावहिं माथा॥

आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥

१/२०४/७-८

अयोध्या की तुलना में चित्रकूट 'शुद्ध प्रेम-भूमि' है। जहाँ प्रकृति का उन्मुक्त राज्य है। गोस्वामीजी ने स्नेह के लिए वन की उपमा दी-

राम कथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु।

तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥ १/३१

केवट प्रसंग, धर्म भूमि और शुद्ध प्रेम भूमि की विभाजक रेखा है। गंगा ही वह विभाजक रेखा का रूप हैं। वन में देखिए तो सभी अव्यवस्थित विविध भाँति के वृक्ष, वल्लरियाँ-सब हैं, किन्तु उनका कोई क्रम नहीं। नगर में सब के साथ यह अनुभूति है कि सब कुछ निर्मित है। वस्तु को अपने रूप में नहीं रहने दिया गया है। वन में सब कुछ अपने सहज रूप में विद्यमान है। अयोध्या और चित्रकूट में यही भेद है। नगर के नागरिक सभ्य, सुशिक्षित, राम-भक्त, त्यागी आदि हैं। किन्तु चित्रकूट की झाँकी तो केवट-प्रसंग से प्रारम्भ होती है। जो अटपटी भाषा में बोलता है, निर्भीक है। अपनी इच्छानुकूल राम को चलने के लिए बाध्य करता है। फिर भी उसमें (केवट प्रसंग में) कुछ ऐसी आन्तरिक मिठास है कि प्रभु की मर्यादित हँसी बन्धनों से मुक्त होकर मुख पर खेल जाती है-

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।

बिहँसे करुनाएन चितइ जानकी लखन तन॥ २/१००

चित्रकूट में सभी कुछ मधुरता से ओत-प्रोत है। वहाँ के कोल-भील, कुरंग-विहंग आदि सभी राम को अपने सहज अनावृत वेश में देख पाते हैं। उनकी क्रीड़ा और कौतुक का आनन्द लेते हैं। यहाँ वे सभी के लिए सुलभ हैं। राम भी इस प्रेम भूमि में आकर अवध को भूल जाते हैं-

क्यों कहौ चित्रकूट-गिरि, संपति महिमा मोद मनोहरताई।
तुलसी जहँ बसि लखन राम सिय आनंद अवधि अवध बिसराई॥

गीतावली-२/४६/६

चित्रकूट में ऐश्वर्य और वैभव का अभाव है, फिर भी यहाँ कुछ ऐसा है कि, जिसके समक्ष अन्य सब अल्प प्रतीत होते हैं। जानकी और लक्ष्मण भी इस वातावरण में अधिक आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। न यहाँ सेवक-सेविकाओं की भीड़ है; और न राज-मन्दिर के कठोर विधि-विधान। स्वयं राघवेन्द्र वृक्षों के पत्र-पुष्प, वन की रंग-विरंगी गैरिक धातुएँ आदि लाते हैं। शय्या सजाते हैं, आभूषण बनाते हैं। जानकी को धारण कराते हैं, मुख पर पत्रावली का निर्माण करते हैं। यह सब न तो राजमहलों में सम्भव था और न वहाँ की मर्यादा के अनुकूल होता। लक्ष्मण के लिए यह अवसर जीवन के चरम सौभाग्य का है। स्वयं उन्होंने अपने हाथों से प्रभु के लिए पर्णकुटी का निर्माण किया है, तुलसी के पौधे लगाये हैं, वन से कन्द-मूल फल लाते हैं। वे (लक्ष्मण) जानकी के अपार वात्सल्य के अकेले भागी; और प्रभु के लिए तो 'पलक विलोचन गोलक' हो रहे हैं। इसके अनेक चित्र मानस और गीतावली में वर्णित हैं-

फटिकसिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु-तमाल,
ललित लता-जाल हरति छबि बितानकी।
मन्दाकिनि-तटिनि-तीर, मंजुल मृग-बिहग-भीर,
धीर मुनिगिरा गभीर सामगानकी॥
मधुकर-पिक-बरहि मुखर, सुंदर गिरि निरझर झर,
जल-कन घन-छाँह, छन प्रभा न भानकी।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ,
जनु बिहार-बाटिका नृप पंच बानकी॥
विरचित तहँ परनसाल, अति बिचित्र लषनलाल,

निवसत जहँ नित कृपालु राम-जानकी ।
 निजकर राजीवनयन पल्लव-दल-रचित सयन,
 प्यास परसपर पियूष प्रेम-पानकी ॥
 सिय अँग लिखैं धातुराग सुमननि भूषन-बिभाग,
 तिलक-करनि का कहैं कलानिधानकी ।
 माधुरी-बिलास-हास, गावत जस तुलसिदास,
 बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रानकी ॥ गीतावली-२/४४

अवध और चित्रकूट दोनों ही प्रभु के धाम हैं। दोनों के रस भिन्न हैं। व्यक्ति के स्वभाव और रुचि में भी भिन्नता पायी जाती है। श्रेष्ठता और कनिष्ठता व्यक्ति की अभिरुचि पर ही निर्भर है। समाज में इस भिन्नता को हम नित्य देखते हैं। मर्यादा और प्रेम-इन दोनों की ही पराकाष्ठा राम के चरित्र में है। अपनी अभिरुचि के अनुकूल 'धाम में' राम को लाकर हम उनकी लीला का रस ले सकते हैं।

नाम और रूप की ही भाँति 'धाम' के भी दो रूप हैं। एक प्रकृति (चर्म चक्षुओं से दृष्टिगोचर होने वाले) धाम-अवध, चित्रकूट आदि। दूसरा धाम-जिसकी प्राप्ति भक्त को लोक के पश्चात् होती है। जिसे गीता में 'तद्धाम परमं मम' कहकर वर्णन किया गया है। मानस के अनेक प्रसंगों में भी उस धाम का उल्लेख है।

धाम और मुक्ति को एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया, ऐसा जान पड़ता है। निज पद, निजधाम और मुक्ति। ये तीन शब्द मुक्ति के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। संभवतः इनका तात्पर्य वैष्णवाचार्य द्वारा स्वीकृत-मुक्ति के चार भेद हैं। सायुज्य, सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य। पृथक्-पृथक् प्रसंगों में इन सभी का उल्लेख है। नाम, रूप, लीला एवं धाम विग्रहों की उपासना की भाँति सायुज्य-सारूप्य-सामीप्य-सालोक्य उपाधियाँ मिल सकती हैं-

(सायुज्य)- तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे। ३/३५/छंद
 (सारूप्य)- गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा ॥ ३/३१/१
 (सामीप्य)- जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा ॥ ७/३/६
 (सालोक्य)- राम बालि निजधाम पठावा। ४/१०/१

कहीं-कहीं इन्हीं मुक्तियों को मिश्रित शब्दों में उल्लेख किया गया है।
यथा, रावण प्रभु में लीन हो जाता है-

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥

६/१०२/६

अधम सिरोमनि तव पद पावा।

६/१०६/१०

तुम्हहू दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं। ६/१०३/छंद-१

वैसे तो गोस्वामीजी ने शंकर मत में स्वीकृत कैवल्य मुक्ति को स्वीकार किया है। वैष्णवाचार्य, इस कैवल्य मुक्ति (विदेह मुक्ति) को नहीं मानते-

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अन इच्छित आवइ बरिआईं॥

७/११८/२-३

गोस्वामीजी की दोनों स्वीकृतियाँ स्वाभाविक हैं। एक ओर वे ब्रह्म-अवतार स्वीकार करते हैं; जिनका 'विश्व-वास' है और किसी विशिष्ट धाम में न रहकर सर्वत्र हैं एवं प्रकट हो जाते हैं। दूसरी ओर उन्हें कल्प-भेद और विविध भक्तों की मान्यता के अनुकूल वैकुण्ठ, क्षीर-सागर आदि धाम भी मान्य हैं-

पुरबैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥

जाके हृदयँ भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती॥

१/१८४/२-३

यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि रामानन्दीय वैष्णवों की भाँति गोस्वामीजी ने 'साकेत' लोक को कहीं उल्लेख नहीं किया। यदि गोस्वामीजी रामानन्दी वैष्णव थे (जैसा कि कहा जाता है)। तब यह एक विचारणीय प्रश्न है ? इससे यही सम्भव प्रतीत होता है कि सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर भी गोस्वामीजी के विचारों में यथेष्ट स्वातन्त्र्य था। उनकी समस्त कृतियों के पर्यालोचन से भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है। रामानन्दीय वैष्णव, वैकुण्ठ से पृथक् साकेत लोक स्वीकार करते हैं। वैकुण्ठ में चतुर्भुज नारायण का आवास है। परात्पर राम को उन चतुर्भुजी का अंश स्वीकार करना होगा (जैसी रामानुजीय सम्प्रदाय की मान्यता है)। द्विभुज राम का स्वयं एक लोक है; जिसका नाम साकेत है। कृष्णभक्ति

शाखा में भी इसीप्रकार की गोलोक सम्बन्धी मान्यता है।

गोस्वामीजी शुद्ध परात्पर ब्रह्म (जिनका कोई लोक विशेष नहीं है, जो भक्त की आकांक्षा पूर्ति के लिए अवतार लेते हैं) मानते हैं-

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।

X X X

मोर बचन सब के मनमाना। १/१८४/५से



लीला-साधना

मानस में कल्पभेद की बात अधिकांश लोगों को उलझन में डाल देती है। मानस की मान्यता से प्रत्येक कल्प में राम का अवतार होता है; और प्रत्येक कल्पों में अवतार-कारण भी भिन्न होते हैं। मानस में इसी बात को लेकर 'कल्प एक दुइ कहऊँ बखानी' का प्रयोग किया गया है। मानस में चार कल्पों की कथा का उल्लेख है। जिसमें चौथे कल्प की कथा का विस्तृत वर्णन है—

- (१) जय-विजय को सनकादि शाप देते हैं। वे ही रावण-कुम्भकर्ण के रूप में जन्म लेते हैं, इनके उद्धारार्थ अवतार।
- (२) नारद क्षीरशायी को शाप देते हैं, उनके वचन पूरणार्थ अवतार।
- (३) वृन्दा ने शाप दिया, उसके लिए अवतार।
- (४) प्रतापभानु रावण होता है। मनु-शतरूपा की आकांक्षा पूर्ति के लिए अवतार।

राम जनम के हेतु अनेका। १/१२१/२

इन चारों प्रकारों को एक साथ रामावतार में समझ लेने पर कोई विशेष उलझन नहीं रह जाती। फिर भी कुछ बातें बीच में ऐसी होती हैं, जो भ्रम की सृष्टि कर देती हैं। प्रतापभानु जब रावण रूप में जन्म पाता है; तब देवता प्रभु से अवतरण की प्रार्थना करते हैं। इसके उत्तर में उन्होंने अवतार लेने की स्वीकृति देते हुए कहा—

कश्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहूँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरीं प्रगट नरभूपा ॥

१/१८६/३-४

अब यहाँ मनु-शतरूपा के स्थान पर कश्यप-अदिति का उल्लेख

असंगत लगता है और इसके साथ नारद-शाप की बात से और भी कठिनाई हो गयी—

नारद बचन सत्य सब करिहउँ । परम सक्ति समेत अवतरिहउँ ।।

१/१८६/६

नारद-शाप से रूद्रगणों को रावण-कुम्भकर्ण होना पड़ा था। कई लोग इसे कवि की असंगति मानकर सन्तोष कर लेते हैं। किन्तु इतने सन्निकट के प्रसंग को भुलाकर अतुल प्रतिभा का धनी कवि गोस्वामीजी ऐसी भूल करें, यह सर्वथा अविश्वस्त है। तब इसका उद्देश्य क्या है ?

कल्प का शास्त्रीय रूप दिखाया जा चुका है। प्रत्येक कल्प में राम का अवतार होता है। किन्तु जैसे एक के बाद दूसरा कल्प क्रम से शास्त्रीय विधान है; वैसे कल्प मानकर अवतार क्रम से कल्पना करते हैं। ऐसी मान्यता के कारण ही इन विरोधों की संगति नहीं लग पाती।

यह हमारा सौभाग्य है कि गोस्वामीजी ने अपने ग्रंथ की उलझनों का समाधान मानस के ही विविध प्रसंगों में दे दिया है। कल्प का रहस्य समझने के लिए अन्तिम सोपान में काग-प्रसंग का अध्ययन गम्भीरता से करना चाहिए। जिसे हम पहले लिख चुके हैं—

प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा । देखउँ बाल बिनोद अपारा ।।

भिन्न-भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान ।

अगनित भुवन फिरेऊँ प्रभु राम न देखेउँ आन ।।

७/८०/८ से

राम ही एकमात्र ऐसे थे; जो कि सर्वत्र 'वही' थे। उद्देश्य स्पष्ट है कि समस्त ब्रह्माण्डों के ब्रह्म (भगवान्) पृथक्-पृथक् नहीं हो सकते। राम एक हैं। समस्त ब्राह्माण्डों में सृष्टि है; जहाँ सृष्टि है, वहीं रावण की समस्या है। रावण अवश्य है; किन्तु विभिन्न ब्रह्माण्डों में रावण का भिन्न-भिन्न रूप है। कहीं जय रावण है। कहीं जालन्धर रावण है। कहीं रूद्रगण रावण हैं। कहीं प्रतापभानु रावण है। इसी प्रकार मनु-शतरूपा, कश्यप-अदिति, दशरथ-कौशल्या आदि भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। काग अपने दृष्टिकोण से १०१ कल्प तक विभिन्न

ब्रह्माण्डों का भ्रमण करते रहे, उस समय उनकी दृष्टि में भी काल-क्रम था, पूर्वापर का विभेद था, उनके लिए देश-काल पूर्वापर में थे, क्योंकि वे एक के बाद दूसरे में गये होंगे। किन्तु ब्रह्म की दृष्टि समकाल में ही है। जिसका बोध काग को भेदों से बाहर आने पर 'दो घड़ी' मात्र के रूप में ज्ञात हुआ। कौन सत्य है ? इसकी मीमांसा कठिन है।

जनक ने एक बार स्वप्न में अपने को भिक्षुक-रूप में देखा, जागने पर अपने को सेवकों से घिरा देखा। कौन सत्य है ? सभा में आकर जनक ने स्वप्न को बिना बताये प्रश्न किया। तब तत्त्वज्ञ अष्टावक्र ने 'न यह सच और न वह सच' कहकर जनक का समाधान किया।

दो घड़ी और १०१ कल्प, काल की अनुभूति मात्र है, उसकी कोई ठोस सत्ता नहीं है। आकाशवाणी (नभ-गिरा) ब्रह्म की वाणी है, उसके लिए पूर्ण और व्यापक दृष्टि से बोल पाना ही सम्भव है। मानस में चारों कल्प (अनन्त कल्पों के प्रतीक) एक साथ चल रहे हैं। ब्रह्म ही किन्हीं लोगों की दृष्टि में वैकुण्ठवासी नारायण प्रतीत होते हैं तो दूसरों के लिए क्षीरशायी विष्णु। देवताओं के इस विवाद का भगवान् शिव ने यही समाधान दिया था—प्रभु तो सर्वत्र हैं, यदि कोई उन्हें वैकुण्ठ या क्षीरसागर में देखता है तो इसमें अनौचित्य कहाँ है ?

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥

१/१८४/५-६

यदि वे अयोध्या में अवतरित होकर अपूर्ण या अंश नहीं हो जाते, तो फिर वैकुण्ठ या क्षीरशायी होने पर अपूर्ण या अंश कैसे हो जायेंगे ? दुर्भाग्यवश बहुतों ने यह मान लिया है कि गोस्वामीजी 'राम' को पूर्ण मानते हैं और वैकुण्ठवासी या क्षीरशायी को अपूर्ण। सम्भवतः इसका कारण मनु-प्रसंग का यह वाक्य है।

संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥

१/१४३/६

इसका उत्तर देने से पूर्व मैं आपका ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहूँगा कि गोस्वामीजी ने कथा की अन्य रामायणों में से भिन्नता का उल्लेख

करते हुए केवल कल्प भेद का कारण बताया, किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि अन्य रामायणों में जिन राम का वर्णन है वे भिन्न थे अथवा विष्णु के अवतार थे। उनके शब्द हैं—

कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना विधि करहीं॥
तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबन्ध बनाई॥

१/१३६/२-३

भगवान् शिव भी यही कहते हैं कि एक बार प्रभु ने अमुक कारण से, दूसरी बार अमुक कारण से अवतार लिया। इसका तात्पर्य यही है कि प्रभु तो एक ही हैं, अवतार के कारण भिन्न-भिन्न हैं। यदि भगवान् में भिन्नता होती तो कारणों की भिन्नता न बताकर रूपादि विग्रहों की भिन्नता का संकेत किया जाता है। मनु के प्रसंग वाली पूर्वोक्त पंक्ति में स्पष्ट उद्देश्य है कि समस्त ब्राह्माण्डों में उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए त्रिदेव हैं— ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव। कोटि-कोटि ब्राह्माण्डों में पृथक्-पृथक् त्रिदेव हैं। तब स्वभावतः ब्रह्म (राम) के अंश से कोटि-कोटि ब्रह्मा-विष्णु-शिव की उत्पत्ति माननी होगी। मनु के समक्ष, ब्रह्मा-विष्णु-शिव आते हैं; और वे, उनसे वर की याचना नहीं करते। क्योंकि वे (त्रिदेव), एक ही ब्रह्माण्ड के संरक्षक हैं। मनु की आकांक्षा सगुण, जो इससे पहले हो चुका है, उसे देखने की नहीं, अपितु अगुण को ही देखना है। पर यह तो मनु का दृष्टिकोण है। नारद 'मोरे हितु हरि सम नहिं कोई' कहकर जब क्षीरशायी विष्णु को पुकारते हैं, तब क्या नारद अपूर्ण को भगवान् मान बैठे थे और मनु को पूर्ण भगवान् का ज्ञान था ? यह तर्क सर्वथा हास्यास्पद हो जायेगा। सनक आदि, जो ब्रह्मानन्द में लीन रहने वाले निर्गुण-निष्ठ महापुरुष थे; जब वे वैकुण्ठ में नारायण-दर्शन के लिए गये; तब क्या वे उन्हें अपूर्ण मानकर गये थे। सगुण (साकार) विग्रह भक्त की भावना और प्रेम का परिणाम है। उसमें कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। वह तो अपने भाव की दृष्टि से एक रूप को 'पूर्ण' स्वीकार करता है।

गोस्वामीजी ने यदि कृष्ण को प्रणाम न कर, उनसे जब राम-रूप के ग्रहण की प्रार्थना की तो इसका तात्पर्य क्या है ? क्या वे कृष्ण को अपूर्ण और राम को पूर्ण मानते थे ? वेश-परिवर्तन से क्या अपूर्ण 'पूर्ण' हो गया, जो

राम-रूप के होते ही उन्होंने प्रणाम किया। वेश-परिवर्तन की प्रार्थना ही यह स्पष्ट बता देती है कि वे दोनों को अभिन्न मानते थे। यह तो वैसी ही बात है; जैसे आप अपने मित्र के वस्त्रों को देखकर कहें कि, भाई ! इस वस्त्र को उतारकर तुम वह वस्त्र धारण कर लो, जिसे तुम कल मेरे यहाँ धारण करके आये थे !

नारद और सनक आदि ऋषियों का क्षीरशायी-नारायण को पूर्ण मानना और मनु का अगुण से सीधे प्रकट होने की प्रार्थना बड़ी मनोवैज्ञानिक है। नारद और सनक आदि का क्षीरसागर और वैकुण्ठ में अव्याहत प्रवेश है। इन्होंने पूर्ण को भक्ति और प्रीति से इस रूप में पा लिया है। यह देवताओं के लिए अभिव्यक्त प्रभु का रूप है। मानव जाति के आदि पुरुष मनु, देवताओं के लिए रूपधारी ब्रह्म का दर्शन क्यों चाहें ? भक्तों के भगवान् तो 'निज' होते हैं। उन्हें देवता-ब्रह्म की अपेक्षा नहीं है; जो चतुर्भुज हैं। उन्हें तो मानव-ब्रह्म की अपेक्षा है। भक्त को ज्ञात है कि वे केवल देवताओं के लिए ही लीला तनु ग्रहण नहीं करते हैं; सीधे मनुष्य के लिए भी एक नया रूप ग्रहण कर आ सकते हैं। अतएव मनु ने देवरूप अस्वीकार कर दिया, यह मानव जाति के गौरव की रक्षा है। देवता ही अपने ब्रह्म द्वारा लोक कल्याण नहीं कराते। मनुष्य भी इतना महान् है कि वह ब्रह्म को व्यक्त करके उन्हें (देवों को) सुखी बनाता है; और संकट में पड़े हुए देवताओं के रक्षार्थ उन्हें (राम को), वन में भी प्रेषित कर देता है। इसीलिए मानव-शरीर, देवताओं के लिए ईर्ष्या की वस्तु है।

कल्पों की समकालीनता के साथ-साथ ब्रह्म, क्षीरशायी और नारायण की अभिन्नता को दृष्टिगत रखकर विचार करने से उलझनें सुलझ जायेगी। देवताओं में 'कहँ पाइय प्रभु करिअ पुकारा' का मतभेद उपस्थित हो जाने पर भगवान् शिव द्वारा उद्बोधित ब्रह्मा, वही प्रार्थना करते हैं; जिस प्रार्थना में भी सभी भावनाओं का समावेश है। वे 'सिन्धुसुता प्रियकन्ता' हैं, 'जय-जय अबिनासी सब घट बासी व्यापक परमानन्दा' भी हैं। 'पालन सुर धरनी' के रूप में लोकपाल विष्णु भी हैं। साथ ही 'जेहि सृष्टि उपाई विविध बनाई' कहकर उनकी पृथक्ता भी कह देते हैं।

अब आकाशवाणी पर ध्यान दीजिए ! नभ-गिरा की मार्मिकता यही है

कि वह कल्पों की क्रम-प्रणाली के स्थान पर एक साथ ही कई कल्पों का उल्लेख करती है। वहाँ नारद हैं और सनकादि भी। अतएव प्रभु कई कारणों को एक साथ बताते हैं, इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मनु-शतरूपा के स्थान पर कश्यप-अदिति का नाम लिया गया, क्यों ? बिना उपासना का रहस्य समझे, इसका आनन्द नहीं लिया जा सकता। प्रभु कहते हैं—‘तुम्हें लागि धरिहउँ नर वेषा’ तुम्हारे लिए अवतार लूँगा। भक्त की आकांक्षा पूर्ति, अपने भगवान् से होती है; सबके भगवान् से नहीं। मनु-शतरूपा का उल्लेख कर देने से ‘तुम्हें लागि’ का रस समाप्त हो जायेगा। अत्यधिक सामीप्य का बोध कराने के लिए ‘तुम्हारे लिए नर वेश धारण करूँगा’ कहकर देवर्षि को तो प्रसन्न किया ही, साथ ही देवताओं को भी यह संकेत दिया कि, तुम्हारी ही सहायता से रावण-वध करूँगा। इस गगन-गिरा में देवताओं की भावनाओं का प्रत्युत्तर है। इसकी संगति भावगत है, न कि स्थूल कारण-गत। ठीक इसके प्रतिकूल मनु के समक्ष प्रकट होने पर अन्य किसी कारण का उल्लेख न करके, ‘केवल तुम्हारे लिए अवतार लूँगा’ मात्र संकेत करते हैं—

इच्छामय नरवेष सँवारें। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥
 अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुखदाता॥
 जे सुनि सादर नर बड़ भागी। भव तरिहहि ममता मद त्यागी॥
 आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥
 पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य-सत्य पन सत्य हमारा॥

१/१५१/१ से

इस गगन-घन-घोष में न कहीं रावण-वधार्थ संकल्प है; और न भू-भार-हरणार्थ बात। यहाँ तो ‘करिहउँ चरित भगत सुख दाता’ का ही उद्देश्य है। उपासना की दृष्टि से इसका मुख्य लक्ष्य, यह संकेत देता है कि भगवान् ‘कारक-पारक’ हैं। फिर भी वे जब कारण स्वीकार करते हैं, तब उसी भक्त की भावना को ‘सर्वस्व’ मानते हैं, जिसकी आकांक्षा का परिणाम, वही रूप होता है।

समस्त ब्रह्माण्डों में कल्प (कल्पना) चल रहे हैं। एक-एक ब्रह्माण्ड में भी जितने-जितने व्यक्ति हैं; उन व्यक्तियों का भी एक-एक स्वतन्त्र ब्रह्माण्ड है;

और इस स्वतन्त्र एक ब्रह्माण्ड (मस्तिष्क) में राम-लीला सर्वत्र हो रही है। जब राम की लीला में कारण की खोज होती है। तब प्रत्येक भक्त को लगता है कि, यह भगवान् मेरे कारण से आये हुए हैं और जब दूसरे कारण सामने आते हैं; तब भक्त यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाता है कि यह किसी अन्य कल्प के राम की लीला है। तभी प्रत्येक भक्त को उसमें (राम-लीला में) रसोपलब्धि हो सकती है।

भगवान् एक हैं; और ब्रह्माण्ड अनेक हैं। लीला सर्वत्र हो रही है। अघटित-घटना-पटीयसी माया का आश्रय लेकर 'वह' सर्वत्र लीला करता दीख रहा है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड वाले यही समझते होंगे कि वे तो इस समय केवल यहीं हैं। सब के 'कारण' हैं और वे तो कारणों से परे, किन्तु सब कारणों को मान लेते हैं। एक परिवार में आप जाँय; और उसके सभी सदस्य आपसे स्नेह करते हों, वे यदि आपसे पृथक्-पृथक् पूछे कि 'आप किसके लिए आये' ? प्रत्येक हृदय को सुखी और स्नेहार्द बनाने की भावना से छल या दम्भ से नहीं, आप यही कहेंगे 'तुम्हारे लिए'। पिता के दो बच्चे झगड़ पड़ते हैं, कहते हैं कि पिता जी केवल मेरे हैं और निर्णय कराने के लिए पिता के पास पहुँच जाते हैं; अब पिता क्या उत्तर दे ? एक का कहने पर दूसरे को कष्ट होता है। यदि कह दें 'दोनों के' तो दोनों ही पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हो पाते। पराजय से दोनों बच गये; किन्तु उन्हें तो विजय चाहिए। विनोदी पिता तब दोनों को पृथक्-पृथक् कान में कहता है कि हम हैं तो केवल तुम्हारे; किन्तु देखो, ऊपर से कहेंगे कि उसके हैं। बालक प्रसन्न हो जाते हैं। भगवान् भी तो 'पिता' हैं—

अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाय।।

७/८६/७

वे बड़े कौतुकी भी हैं। अनेक रूप बना लेते हैं। वन से लौट आने पर अयोध्या आये, तब अनेकानेक व्यक्ति दर्शन और सम्भाषण के लिए व्यग्र हैं। आपने उतने ही रूप बना लिये। सबसे एक साथ मिले। प्रत्येक यही सोचता है कि जब मेरे पास थे, तब दूसरे के पास कैसे हो सकते हैं ? दूसरे से कौन प्रश्न करे ? सभी आनन्द में डूबे सोच रहे हैं, मुझसे मिलने के लिए ही तो

आये हैं; तभी तो सबसे पहले मुझसे मिल रहे हैं। अब कौन बतावे कि किसके लिए आये और किससे पहले मिल रहे हैं ?

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमितरूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

७/५/४ से

असंगति केवल इसलिए लगती है कि हम बँधी-बँधायी धारणाओं से पूर्वापर की संगति मिलाते हैं। भावगत संगति का अटपटा रहस्य समझे बिना इन प्रसंगों को समझा ही नहीं जा सकता है। यहाँ तो मूलसूत्र ही यही है—

जिन्हकें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

१/२४०/४

यदि जानकी-वियोग होगा, तो प्रभु रुदन करेंगे ही, पर किसके लिए ? नारद को लगता है कि प्रभु मेरे वचन की रक्षा के लिए रो रहे हैं। अब प्रश्न है कि जानकी-प्रेम में विह्वल हैं अथवा नारद-वचन सत्य कर रहे हैं—

मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥

३/४०/६

मानस में कहने के लिए चार कल्पों की कथा एक साथ चल रही है। पर, अनेक कल्पों की कथा को एक साथ मिलाकर सब को पृथक् रस दिखाना मात्र है।

मनुष्य जाति की दृष्टि में प्रभु मनु-शतरूपा से जन्म लेते हैं, रावण का उद्धार करते हैं। रावण भी पूर्व में मनुष्य था 'प्रतापभानु'। अतएव यह अवतार शुद्ध मानव जाति के लिए है।

देवताओं के लिए वही प्रभु कश्यप-अदिति से जन्म लेते हैं, जय-विजय अथवा रुद्रगण का उद्धार करते हैं। अतएव यह शुद्ध देवजाति के लिए है।

जालन्धर रावण होता है, इसकी पत्नी वृन्दा पतिव्रता थी। असुर-सती का शाप स्वीकारकर असुर का उद्धार करते हैं। अतएव यह शुद्ध असुर-जाति के लिए है।

सबके हैं, सबके कल्याण के लिए आते हैं। अतएव भगवान् शिव इस सत्य को गहराई से जानते हैं, स्पष्ट कह देते हैं—

इदमित्थं कहि जाइ न सोई । १/१२०/२

‘लीला’ शब्द, मानस समझने का सर्वश्रेष्ठ सूत्र है। इसका तात्पर्य है कि स्वेच्छा से किया गया अभिनय। अभिनय सोद्देश्य होता है। इस अभिनय का उद्देश्य-मानव हृदय की स्वच्छता है। इसलिए मुख्य वस्तु, लीला की घटनाओं को देखना मात्र नहीं है। उनका रहस्य हृदयंगम करने पर ही लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है। केवल लीला की घटनाओं को देखने से भ्रम की भी सम्भावना है। इसीलिए प्रभु की लीला को ‘दनुज-विमोहनि’ भी कहा गया है। अविवेकियों को भी मोह प्राप्त होता है—

असि रघुपति लीला उरगारी । दनुज विमोहनि जन सुखकारी ॥

७/७२/१

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे । जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ॥

२/१२६/७

इस लीला के साथ ‘कहउँ बखानी’ की भी अपेक्षा है। चरित्र में हुए कार्यों को अनुकरणीय मान लें तो विभाजन करना पड़ेगा। किस अवस्था से अनुकरण प्रारम्भ करें, और कौन से कार्य अनुकरणीय हैं और कौन से नहीं। दृष्टान्त के रूप में बाल्यावस्था में जन्म लेने के पश्चात् राम का रुदन ले लें तो इसमें कोई अनुकरणीय बात नहीं। आप बड़ी सरलता से कह सकते हैं कि यह तो बाल सुलभ कार्य है। पर गोस्वामीजी कहते हैं—‘सोइ स्वच्छता करइ मलहानी’। अब इस लीला से क्या मल-हानि हुई ? तर्क के रूप में कहा जा सकता है कि इस लीला का यह फल नहीं है। किन्तु गोस्वामीजी इसी फल का उल्लेख करते हैं—

यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा ।

१/१६१ छंद

सांसारिक बालक का रुदन बाँधता है। बालक-राम का रुदन मुक्ति दिलाता है। क्यों ? साधारण तर्क है कि यदि बालक रुदन कर रहा है तो, उसकी इच्छा पूरी कीजिए ! उसकी पीड़ा दूर कीजिए ! ब्रह्म को क्या पीड़ा है ? वह

तो पूर्ण आनन्दमय है। पर वह जीव का सखा है, तब जीव की पीड़ा से 'वह' रुदन कर रहा है, यही भक्तों की मान्यता है। जानकी का सन्देश सुनकर उनके दोनों नेत्रों में आँसू छलक आये—

सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिव नयना॥

५/३१/१

लीला (कथा), प्रभु का वाङ्मय-विग्रह है। इसके द्वारा भी वही समग्र कार्य होते हैं, जैसे—नाम, रूप, धाम द्वारा पूर्ण होते हैं। इस विग्रह की एक विशेषता और है कि इसके आश्रय से ही अन्य विग्रहों का महत्त्व जाना जा सकता है। नाम, रूप, धाम आदि सभी का रहस्य कथा द्वारा ही ज्ञात होता है। अतः इसकी जितनी महत्ता गायी जाय, अल्प ही होगी।

कथा को चेतन भगवद्रूप मानने का तात्पर्य क्या है ? कथा को जड़ मानकर व्यवहार न कीजिए ! अधिकांश लोग शब्दसमूहमात्र मानकर इसका चाहे जैसा उपयोग करते हैं। जड़ और चेतन, दोनों के रहस्य जानने की प्रणाली भिन्न है। जहाँ जड़ का भेद, यन्त्र के माध्यम से उसे पृथक्-पृथक् करके जाना जाता है; वहाँ चेतन से उसका मर्म, मैत्री और स्नेह से ज्ञात होता है। गोस्वामीजी ने मानस का मर्म जानने के लिए तीन साधनों की आवश्यकता बतायी—

जो श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्हकर साथ।

तिन्ह कहूँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ॥ १/३८

श्रद्धा, सन्त-संग एवं राम-प्रियता के अभाव में मानस अगम ही नहीं अति अगम है। स्पष्ट है कि नायक के प्रति द्वेष आदि लेकर चलें तो प्रत्येक क्रिया में दोष ढूँढ़ा जा सकता है। क्रिया प्रत्यक्ष दिखायी देती है। भावना निराकार है। अब भावना का चित्र खींचते समय व्यक्ति स्वयं ही अपनी भावना को आरोपित करके, उसी चित्र को दूसरे का चित्र मान लेता है। यह ऐसा ही है जैसे-दर्पण में अपनी कुरूप आकृति को देखकर व्यक्ति झुँझला उठे और यह कहे कि क्या कुरूप मुख देखना पड़ रहा है ? बिहारी ने एक शृंगारिक दोहा लिखा। गाँव में एक नव-वधू आयी, आने के पहले ही उसके रूप की ख्याति आ चुकी थी, पर नव-वधू को देखकर ग्राम-स्त्रियाँ बड़ी निराश हुईं, क्यों ?

नव-वधू इतनी सुन्दर थी कि उसके कपोल दर्पण के समान चमक रहे थे, अतः प्रत्येक स्त्री को अपनी ही आकृति उसमें दिखायी पड़ी—

मुकुर कपोलनि देखि ।

सबै गँवारिन गाँव की गई आपु सम पेखि ॥

राम-चरित्र के समझने में भी यही समस्या सामने आती है। यद्यपि यह तो कहा ही जा सकता है कि राम द्वारा देखा गया चित्र भी वास्तविक नहीं है। दुर्जन-तोषण न्याय से इसे मान भी लें तो यह प्रश्न आता है कि यदि आकृति का निर्माण कल्पित करना ही हो तो कुरूप की क्यों कल्पना करें ? व्यावहारिक दृष्टि से भी इसमें जो हानियाँ हैं, उस पर भी सजग दृष्टि रखने की आवश्यकता है। समाज में कुछ पात्र ऐसे होते हैं, जो एक व्यक्ति को कुछ अधिक महत्त्व देते हैं। सैकड़ों वर्षों से कोटि-कोटि व्यक्तियों के अन्तःकरण में जो श्रद्धा की प्रतिमा है, जिससे वे प्रेरणा और आशा का सन्देश पाते रहे हैं, उसे खण्डित कर देना सहज है, पर उसके द्वारा हम व्यक्ति की आस्था को नहीं तोड़ सकते। तोड़कर हम अपनी ही कुत्सित रुचि का परिचय देते हैं। मनुष्य के जीवन में भावना के केन्द्रीकरण के स्थान होते हैं। यथा ध्वज एक वस्त्र खण्डमात्र ही तो है, पर इसकी रक्षा की आन-बान-शान में लक्ष-लक्ष व्यक्ति मर मिटते हैं। आप इसे क्या कहियेगा ? क्या एकाध रूपये के कपड़े के पीछे जान दे देने वाला अविवेकी होगा अथवा देश-भक्त वीर ? इस प्रकार पैसे-रंग-कपड़ा से मूल्य आँकने वालों को हम किस दृष्टि से देखें ? राम आज एक व्यक्ति के रूप में नहीं हैं, उन्हें हम विराट् का साक्षात् रूप मानते हैं, वे हमारे लिए आदर्श और विश्वास के केन्द्र हैं, उन्हें (राम को), वहाँ (हृदय) से हटाकर, आप रावण (मोह) को स्थापित करना चाहते हैं। अरे, इसका परिणाम क्या होगा ? रावण भी नहीं बैठ पायेगा। मनुष्य आस्था-विहीन हो जायेगा। इसप्रकार संशयालु वृत्ति, दोनों को हटाकर, संशय का राज्य स्थापित कर देगी; परिणाम होगा—‘संशयात्मा विनश्यति’। इसके विपरीत यहाँ तो दोहरी सज्जगता है। हम राम को परमसुन्दर रूप में अंकित करते ही हैं, पर जिस रावण को हम कुरूपतम रूप में चित्रित करते हैं, उसके प्रति भी द्वेष न हो जाय, इसके लिए भी भक्त सावधान है। क्योंकि भक्त कभी भी दोष देखना उचित नहीं मानता। किसी के

दोष देखने पर हम दोषी को उससे अभिन्न मानकर द्वेष करने लगते हैं; अब यदि दोष देखें तो द्वेषी से द्वेष होकर स्वयं हमारे हृदय में दोष आ जायेगा। दोष सर्वथा न देखें तो हम बुराइयों को स्वयं कैसे छोड़ें ? दोष देखकर कैसे दोषी से द्वेष न हो, यह कला भक्तों से सीखनी चाहिए।

हम रावण में समस्त दोष देखते हैं। परिणाम में उसका पतन देखते हैं। फिर भी ठीक प्रारम्भ में हमें यह बता दिया जाता है कि 'द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ' अथवा 'रहे तहाँ दुइ रूद्रगण'। अन्त में प्रिय स्मरण दिलाते हैं—'तासु तेज समान प्रभु आनन'। बुराइयों से कैसे पतन होता है—लीला में, यह सीखें। अन्त में सभी अभिनेता गले मिले, रस भी मिला और शिक्षा भी मिली; अपरंच द्वेष, किसी के प्रति हुआ नहीं। मानस ने बुराई बतायी, किन्तु किसी को बुरा नहीं बनाया। इसीलिए रावण और गीध दोनों को मुक्ति दिलायी गयी। मानस को समझने के लिए राम के प्रति स्नेह होना चाहिए। राम से द्वेष नहीं।

इस मानस-सर तक पहुँचने के लिए श्रद्धा और सत्संग का होना परमावश्यक है। मानस में श्रद्धा की विस्तृत व्याख्या, ज्ञान-दीपक के प्रसंग में है। ज्ञान-दीपक प्रज्वलित करने के लिए जिस घृत की अपेक्षा है, उसका प्रथम रूप दुग्ध गौ से प्राप्त होगा और वह गाय 'सात्त्विक-श्रद्धा' है। श्रद्धा के त्रिविध रूप हैं—रजोगुणी श्रद्धा-क्रोधिनी गाय है; तमोगुणी श्रद्धा-रोगिणी गाय है; सतोगुणी श्रद्धा-स्वस्थ गाय है। एक जैसा तृण खिलाने पर भी 'फल' विभिन्न प्रकार का प्राप्त होगा। मानस में इसका उत्कृष्ट दृष्टान्त रावण, कुम्भकर्ण एवं विभीषण के 'तप' हैं। तीनों तप में संलग्न होते हैं, क्रिया एक-समान है, फलदाता भी एक ही है, परन्तु फल में पार्थक्य है।

विभीषण के लिए—

सात्त्विक फल - तेहिं मागेउ भगवन्त पद कमल अमल अनुरागु। १/१७७

रावण के लिए—

राजस फल - हम काहू के मरहिं न मारें। १/१७६/४

कुम्भकर्ण के लिए—

तामस फल - मागेसि नींद मास षट केरी। १/१७६/८

तीनों के जीवन में वरदान का प्रभाव इस रूप में दिखायी पड़ा—

सतोगुणी - चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं । ५/४१/४

रजोगुणी - हरिहऊँ नारि जीति रन दोऊ । ३/२२/६

तमोगुणी - महिष खाइ करि मदिरा पाना ।

गर्जा बज्राघात समाना ।।

कुंभकरन दुर्मद रन रंगा ।

चला दुर्ग तजि सेन न संगी ।। ६/६३/१-२

सत्संग तो भक्ति का मूल आधार है; बिना उसकी कृपा के भक्ति की प्राप्ति होना असम्भव है—‘भगति तात अनुपम सुख मूला । मिलहिं जो संत होहिं अनुकूला ।।’ सन्त ही भगवत्कथा का वास्तविक अर्थ जानता है। साधारण स्वार्थी व्यक्ति तो अपनी ही भावना को आरोपित कर देता है। वह अपनी ही दुर्बलताओं का समर्थन राम-कथा में भी ढूढ़ता है। विधान (लौ) की रचना, न्याय के लिए हुई है। पर अपराधी का वकील, उसमें छिद्र ढूढ़ता है, जिस मार्ग से वह अपने अभियुक्त को निकालकर ले जा सके। हमारा मन अपराधी है और वह बुद्धि को अपना वकील बनाता है, वह पुराण, शास्त्र, गीता, मानस आदि सर्वत्र से उसके अपराध का समर्थन (छूट) खोज निकालता है। वक्ता यदि स्वयं स्वार्थयुक्त और मलिन-बुद्धि का है तो वह भी उसी की सिद्धि में लग जायेगा। वक्ता का कार्य श्रोता के मन को ऊपर ले जाना है। पर जब वह अपने को श्रोता के मन की श्रेणी में लाता है तब—‘स्वयं नष्टः परान्नाशयति’ का सिद्धान्त सत्य कर दिखाता है।

श्रद्धा, सत्संग एवं भगवत्प्रेम इन तीनों को आधार बनाकर, राम-कथा का मनन-चिन्तन करने से जीवन में पूर्ण स्वच्छता आ सकती है। क्योंकि मानस में व्यावहारिक एवं पारमार्थिक आदि समस्त तत्त्वों का समन्वय है। राम के चरित्र में नागरिकता और सुसंस्कृति के समस्त अंगों को हम पा सकते हैं। उनका उठना-बैठना, चलना, हँसना आदि सभी आदर्श हैं। गोस्वामीजी ने इनके अनेक मधुर चित्र उपस्थित किये हैं।

राघवेन्द्र अनुज लक्ष्मण सहित विश्वामित्र के सन्निकट जनकपुर में बैठे हुए हैं। लक्ष्मण के हृदय में नगर परिभ्रमण की आकांक्षा का उदय होता है।

लक्ष्मण के जीवन का विशिष्ट उद्देश्य ही प्रभु की यश-पताका को ऊपर उठाये रखना है। इसीलिए जनक ने दोनों भाइयों को देखकर कह ही दिया—

इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि । कहि न जाइ मन भाव सुहावनि ॥

१/२१६/३

एक दूसरे के प्रति पवित्र प्रेम है, जहाँ दोनों एक दूसरे को सुखी बनाने के लिए व्यग्र हैं। इसीलिए सम्भवतः लक्ष्मण के हृदय में नगर देखने की अपेक्षा, जनकपुर-वासियों को प्रभु का दर्शन कराने की इच्छा अधिक रही हो ? पर इस आकांक्षा को वे प्रकट नहीं कर पाते। मन ही मन मुस्करा रहे हैं। राम ने उनके मन की भावना और गति को पहचान लिया। यह भी दोनों के हृदय की एकता का 'सूत्र' है। अब राम प्रीति और नीति का समन्वय अपने व्यवहार द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

परम बिनीत सकुचि मुसुकाई । बोले गुरु अनुसासन पाई ॥

१/२१७/४

लक्ष्मण का प्रेम उन्हें व्यवहार से विमुख नहीं करता। नम्रता से नमन करके संकोचभरी वाणी से मुस्कराते हुए जब राम नगर देखने की आज्ञा माँगते हैं; तब वे अपने शीलयुक्त व्यवहार से विश्वामित्र के हृदय को गद्गद बना देते हैं। मुनि ने राम की सराहना किया—

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती । कस न राम तुम्ह राखहु नीती ॥

धरम सेतु पालक तुम्ह ताता । प्रेम बिबस सेवक सुखदाता ॥

१/२१७/७-८

प्रेम-विवशता और धर्मसेतु-संरक्षण, साधारणतया विरोधी कार्य है। भावना और कर्तव्य के प्रतीक हैं। पर राम, दोनों का समन्वय प्रस्तुत करते हैं। हृदय में प्रीति और व्यवहार में नीति। यह राम की समन्वय पद्धति है। हृदय में नीति व्यक्ति की अन्तःकरण की सरसता को समाप्त कर देती है और व्यवहार में प्रीति का प्राधान्य, सामाजिक मर्यादा को नष्ट कर देता है। हृदय में नीति का भाव, जो अत्यधिक सावधानी ला देता है, वह प्रेम की भावना के सर्वथा विरुद्ध है। प्रेम बहने और डूबने की वस्तु है। नीति सजगता और तैराकी की शिक्षा

देती है। बाह्य व्यवहार के लिए नीति भले ही काम की वस्तु हो, पर अन्तःरस के लिए प्रेम की ही अपेक्षा है। बाह्य व्यवहार में राम ने नीति को सर्वदा अधिक महत्त्व का पद दिया; पर हृदय में प्रीति का ही राज्य रहा।

राम के प्रधानमन्त्री सुग्रीव हैं, जो बड़े ही नितिज्ञ हैं, सर्वदा सजग रहते हैं। हनुमान् जो कि प्रीति-पक्ष के महा-समर्थक हैं, इन्हें सेवक का ही पद प्राप्त है। पर अन्तर्मन में हनुमान् को जो स्नेह प्राप्त है, वह स्नेह सुग्रीव के लिए दुर्लभ है। सीतान्वेषण के लिए वानरों को सभी दिशाओं में भेजा जाता है। सभी वानरों में एक लक्ष्य के प्रति चेतना जाग्रत् करने के लिए यह सर्वश्रेष्ठ उपाय था कि, सभी को जानकी के अन्वेषण में भेजा जाय; किसी को ऐसा प्रतीत नहीं होना चाहिए कि अमुक उपयुक्त नहीं है। यह राम की नीति थी—

जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता ॥

४/२२/१३

अन्तर्मन में प्रीति के प्रति महत्त्व है ही। जानकी के समीप सन्देश भेजने के लिए भगवान् श्रीराम हनुमान् का ही चुनाव करते हैं, उस चुनाव की कसौटी भी अनोखी है—

पाछें पवन तनय सिरु नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा ॥
परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी ॥
बहु प्रकार सीतहिं समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥

४/२२/६ से

यहाँ पर हनुमान्जी का सबसे अन्त में प्रणाम करना, प्रभु के आदर्श के अनुकूल ही था क्योंकि स्वयं हनुमान्जी कभी प्रभु के प्रथम परिचित होने का गौरव-प्रदर्शन करने की चेष्टा नहीं करते। यह उनकी निरहंकारिता तो है ही साथ ही प्रभु को इससे बाह्य व्यवहार करने में भी सुविधा हो गयी। यदि वे प्रारम्भ या मध्य में प्रणाम करते और उन्हें प्रभु मुद्रिका दे देते तो क्रमिक रूप से प्रणाम करने के लिए पीछे खड़े अन्य वानर इस दृश्य को देखकर अपने को निष्प्रयोजनीय समझ लेते। सभी के प्रणाम कर लेने के पश्चात्, अन्त में प्रणाम करने पर, अब जबकि अन्य वानर दूर जा चुके थे, तब प्रभु के समक्ष यह समस्या सामने नहीं आयी।

दूसरी ओर लंका में भी प्रविष्ट होकर हनुमान्जी के द्वारा भक्ति-देवी तक सन्देश पहुँचाने के लिए समग्र योग्यता के होते हुए भी उनके पीछे रहने की अहंशून्य भावना ही सहायक हुई। लंका यात्रा की सभी घटनाओं से यही तथ्य सिद्ध होता है। सुरसा द्वारा हनुमान्जी की परीक्षा का रहस्य भी यही था। यह तो स्पष्ट है कि, सुरसा अपने खाने के लिए नहीं, परीक्षा के लिए भेजी गयी थी; उसने क्या कहा—

आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा॥ ५/१/३

वस्तुतः लंका में जो होने वाला है; सुरसा उसी का प्रदर्शन करती है। आगे नगर में प्रविष्ट होते हुए लंकिनी सचमुच ही खाने के लिए दौड़ेगी—

मोर अहार जहाँ लगि चोरा॥ ५/३/३

लंका, शतयोजन विस्तीर्ण है। सुरसा अपना मुख भी शतयोजन का बनाती है। हनुमान्जी उस होड़ में पहले 'दूना' बनते हैं, यह उनके बड़े होने की क्षमता का सूचक है। इसका उपयोग उन्हें, कई बार करना पड़ता है—

मुठिका एक महाकपि हनी। ५/३/४

सुनि कपि प्रगट कीन्ह निज देहा। ५/१५/७

अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास। ५/२५

फिर भी उनकी महत्ता केवल बड़े होने में ही नहीं है। सुरसा का शतयोजन मुख होते ही वे लघु रूप धारणकर, उसके मुख में प्रविष्ट होकर लौट आते हैं। वस्तुतः लंका में प्रवेश करने की यही पद्धति है।

इसप्रकार भगवान् राम और उनकी लीला के माध्यम से व्यक्ति का जो चरित्र-निर्माण होगा; उसी को दृष्टिगत रखकर गोस्वामीजी ने कहा—

लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी॥

प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥

१/३५/५-६

मानस-सर के सलिल की दो विशेषताएँ—मधुरता और शीतलता हैं। जो कि सिद्ध कवि की दृष्टि में मानस सलिल में 'प्रेम की मधुरता' एवं 'भक्ति की शीतलता' है। भक्ति की व्याख्या तो बड़ी विस्तृत है।

यों तो प्रेम को भी उसकी सीमा में ले सकते हैं; किन्तु, भक्ति के क्षेत्र की व्यापकता में यदि प्रेम को ले लेवें तो हमें प्रेम की महत्ता का बोध नहीं हो पाता। ऐसा लगता है कि भक्ति के अनेक अंगों में एक यह प्रेम भी है, अपितु प्रेम तो भक्ति में प्राण ही है। व्यक्ति तो समस्त इन्द्रियों सहित प्राणरूप से जीवित माना जाता है; इन्द्रियाँ तो सभी उपयोगी हैं; पर तब भी किसी इन्द्रिय के अभाव में कुछ कार्य चल ही जाता है; किन्तु प्राण के अभाव में तो कोई भी कार्य नहीं चल पाता है। इसी दृष्टि से गोस्वामीजी 'प्रेम-भगति' का एक साथ उल्लेख करते हुए दोनों की पृथक्ता का भी वर्णन करते हैं।

पहले शीतलता की बात ले लीजिए ! स्नान और प्यास के लिए शीतलता की अपेक्षा है। श्रम और पिपासा से सन्तप्त जीव आता है और जल पीकर एवं उसमें डुबकी लगाकर स्वस्थता तथा तृप्ति का अनुभव करता है। शरीर की भाँति ही जीव का मन भी प्यासा है; और प्यास भी ऐसी कि जिसकी तुलना अन्य किसी से न हो सके। व्यवहार में देखिए तो हर क्षण मन कुछ न कुछ पीता हुआ दिखायी देगा। समस्त इन्द्रियों के माध्यम से 'विषय-रस' कौन पी रहा है ? हम यह प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि शरीर के श्रमित हो जाने पर भी जैसे मन को चैन नहीं पड़ता, और तब वह स्वप्न का निर्माण करता है। शयन में भी प्यास बुझाने की चेष्टा करता है। पुनर्जन्मवाद तो कहता है कि, पुनर्जन्म भी मन की चिर अतृप्ति का ही परिणाम है। गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका के अनेक पदों में मन की इस स्थिति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है—

मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।

याके लिए सुनहु करूनामय मैं जग जनमि-जनमि दुख रोयो ॥
 सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहिं रहत दूरि जनु खोयो ॥
 बहु भाँतिन स्रम करत मोहबस बृथहिं मंद मति बारि बिलोयो ॥
 करम-कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहिं मल धोयो ॥
 तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि-फिरि बिकल अकास निचोयो ॥
 तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहिं गोयो ॥
 डासत ही गइ बीति निसा सब कबहु न नाथ नींद भरि सोयो ॥

वि.प.-२४५

ऐसी स्थिति में जहाँ जल पीकर भी प्यास न बुझे, स्नान करके भी शीतलता न आवे, तो जल में ही कोई त्रुटि होगी। तब गोस्वामीजी हमें आमन्त्रित करते हैं—

अदभुत सलिल सुनत गुनकारी। आस पिआस मनोमल हारी॥
भव श्रम सोषक तोषक तोषा। समन दुरित दुख दारिद दोषा॥
काम कोह मद मोह नसावन। बिमल बिबेक विराग बढ़ावन॥
सादर मज्जन पान किए तैं। मिटहिं पाप परिताप हिए तैं॥

१/४२/२ से

वे कहते हैं कि ऐसी विशेषता तो केवल मानस के सलिल में ही मिलेगी। जिसकी शीतलता में वह भक्ति है जो जीव के श्रम का अपहरण करके तृप्ति का दान देती है। भक्ति का श्रीगणेश ही यहीं से होता है जब जीव थका हुआ तृप्ति की खोज में है तब स्वभावतः वह तृप्ति की खोज विषय में करता है तब वह संसारी जीव भटकते-भटकते जब तृप्ति के लिए श्रीराम की ओर बढ़ता है, तब भक्ति की सीमा में प्रवेश करता है।



भक्त

मानस में भक्त के चार प्रकार बताये गये हैं—ज्ञानी, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं आर्त—

राम भगत जग चारि प्रकारा । सुकृती चारिउ अनघ उदारा ॥
 ज्ञानी— नामु जीहँ जपि जागहिं जोगी । बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ॥
 जिज्ञासु— जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ । नामु जीहँ जपि जानहिं तेऊ ॥
 अर्थार्थी— साधक नाम जपहिं लय लाएँ । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ ॥
 आर्त— जपहिं नामु जन आरत भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥

१/२१/१ से

चार प्रकार के भक्तों की बात कह देना बहुत सरल है। भक्ति में वास्तविकता-अवास्तविकता का प्रश्न पहले नहीं उठाया जाता। जब तैरना सीख जायेंगे, तभी नदी में उतरेंगे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका तो श्रीगणेश ही व्यक्ति की अपनी मान्यता से होता है। संसार सत्य है या असत्य ? विषय को चाहना उचित है या अनुचित ? प्रारम्भिक स्थिति में इन विवादों की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ तो सीधा आमन्त्रण है। तुम संकट से त्राण पाना चाहते हो ! तो ये सब प्रभु से ही सम्भव हैं। ब्रह्म-सुख पाना चाहते हो तो आओ, प्रारम्भ कर दो प्रभु के चरणों में भक्ति। अर्थ और अभिलाषाओं की पूर्ति चाहते हो ! रहस्य जानना चाहते हो ! सब सर्वदा प्रभु द्वारा साध्य होगा।

भय और लोभ की सहज वृत्ति से भक्ति का श्रीगणेश होता है। भगवान् की जिज्ञासा भक्ति का मध्यभाग है। भगवान् का सुख पाना, उसमें एक हो जाना, भक्ति की चरम परिणति है। भय से संत्रस्त आर्त हैं। लोभ से प्रेरित अर्थार्थी हैं। जानने की इच्छा वाला जिज्ञासु है। जान पाने वाला ज्ञानी है। मानस में— 'ग्यानी प्रभुहिं बिसेष पिआरा' कहकर गोस्वामीजी ने पुष्ट कर दिया है।

इसलिए मानस में भक्तों की ओर देखें तो साधारण से लेकर असाधारण चरित्र वाले अनेक पात्र हमारे सामने आते हैं। दशरथ, गीध, वाल्मीकि, शबरी, कोल, भील, वानर, निशाचर आदि सब वहाँ (भक्ति में) एक पंक्ति में खड़े हुए दिखायी देंगे। ऐसी उदारता जो कि अन्यत्र असम्भव है। पात्रों में स्वभाव, आचार, विचार, आकांक्षा आदि किसी में भी साम्य नहीं है। बस, एकता का एक केन्द्र है—‘राम से सम्बन्ध’।

मानस में भक्ति की भी अनेक प्रसंगों में व्याख्या है। उसका विभाजन भी अनेक रूपों में किया गया है। भक्ति के नव भेद हैं। इस नवधाभक्ति का विभाजन भी दो भिन्न-भिन्न प्रसंगों में पृथक्-पृथक् रूपों में किया गया है। शबरी से कथित नवधाभक्ति और लक्ष्मण को दिये गये उपदेश में भक्ति का वर्णन भिन्न रूपों में किया गया है। वाल्मीकि द्वारा राम-आवास के लिए बनाये गये स्थानों में भक्ति का विभाजन चौदह रूपों में किया गया। इसप्रकार बाह्य दृष्टि से देखें तो बड़ी उलझन प्रतीत होती है; पर इसका निष्कर्ष एक ही है। वस्तुतः संसार में जितनी भाँति की मनोवृत्ति वाले भक्त हैं, भक्ति के उतने ही भेद हो सकते हैं। अब वर्णन की सुविधा के लिए उसका विभाजन कुछ स्थिर रूपों में किया जा सकता है। उसे चार, नव, चौदह की सीमा में बाँधकर जान लीजिए! एक भक्त है जो भगवान् की आराधना करता है, इस आराधना में उसका पूरा परिवार ‘साथी’ है—

मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा॥

तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना॥

तुम्हतेँ अधिक गुरहिं जियँ जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी॥

सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।

तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥ २/१२८/६ से

भक्तिशास्त्र में यदि आर्त या अर्थार्थी को भक्त मान लिया गया तो इसका तात्पर्य, इन वस्तुओं को साध्य बना लेना नहीं है। भक्ति में मानसिक वृत्तियों के संकोचन की प्रणाली बड़ी अनोखी है। साधारण व्यक्ति के जीवन में विविध आकांक्षाएँ हैं, और उनकी पूर्ति के लिए अनेक आलम्बन। अतएव वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए यत्र-तत्र भटकता रहता है। भक्ति का प्रथम

पग यही है कि इच्छाएँ भले ही अनेक हों, पर उनके अनेक आलम्बनों के स्थान पर एक आलम्बन 'भगवान् मात्र को' स्वीकार कर लिया जाय। स्वार्थ-पूर्ति की दृष्टि से भी भक्ति मत में यही मार्ग श्रेष्ठ है। क्योंकि वे कहते हैं कि 'तुम जिन आकांक्षाओं की पूर्ति चाहते हो, उनको पूर्ण करना भी एकमात्र मेरे द्वारा सम्भव है'। विनय-पत्रिका में गोस्वामी जी स्मरण दिलाते हैं—

जाहि दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोई। वि. प. ७८/१

तात्पर्य यह है कि, जिनसे हम आशा रखते हैं, वे भी अपूर्ण हैं। अतः उनसे माँगना स्वयं में कूकर-वृत्ति ले आना है। श्वान भूखा होकर घर-घर डोलता फिरता है। घर के वे लोग कभी-कभी एकाध टुकड़ा डाल देते हैं। उनकी भी लाचारी है कि वे भी स्वयं भूखे हैं, अतः एकाध टुकड़े को छोड़कर अधिक देना सम्भव कहाँ ? एक ओर राम की महिमा और दूसरी ओर लोगों की अपूर्णता का स्मरण कराया जाता है—

जाकैं बिलोकत लोकप होत, बिसोक लहैं सुर लोग सुठौरहि।
सो कमला तजि चंचलता, करि कोटि कला रिझबै सुरमौरहि॥
ताको कहाइ, कहै तुलसी, तू लजाहि न माँगत कूकुर-कौरहि।
जानकी-जीवन को जनु है, जरि जाउ सो जीह जो जाचत औरहि॥

कवितावली-७/२६

अन्य लोग देते हैं तो कुछ वस्तुएँ मिल जाने पर भी याचकता की वृत्ति, माँगने वाले में बढ़ती ही जाती है। देने वाले थोड़ा देते हैं, क्यों ? उन दानियों के अन्तर्मन में यह भावना रहती है कि यदि एक साथ दे देंगे तो कल कौन माँगेगा और हम दानी कैसे कहलायेंगे ? राम तो केवल एक बार देते हैं, साथ ही माँगने वाले को भिखारी नहीं कहते। ज्ञानी मात्र को नहीं, आर्त और अर्थार्थी को भी उदार की उपाधि दी गयी है। गीता में 'उदाराः सर्व एवैते' कहा गया है। मानस में भी इस उपाधि को अक्षुण्ण रखा गया है— 'सुकृती चारिउ अनघ उदारा'। भिक्षु को उदार मानने की प्रणाली केवल भक्ति शास्त्र में है। क्योंकि राम किसी को भिक्षु मानकर नहीं देते। माँगने वाला भी उनकी दृष्टि में उदार है। विनय-पत्रिका, कवितावली, दोहावली आदि सर्वत्र में एकमात्र राम से माँगने की प्रेरणा दी गयी है। सर्वत्र राम की अनन्त सामर्थ्य के साथ उनके

शील-स्वभाव की सराहना की गयी है। माँगने वाला प्रारम्भ में पाने की भावना से जाता है; पर ज्योंही वह राम के सम्पर्क में आता है, त्योंही उसकी कामनाएँ समाप्त होने लगती हैं। तब प्रभु के शील-स्वभाव के कारण भक्त का प्रेम सहज ही भगवान के प्रति हो जाता है। भक्त को तब यह लगने लगता है कि 'राम से, राम को छोड़कर अन्य से कुछ माँगना ही हास्यास्पद है'। यह है भक्ति-शास्त्र में मन-नियमन की प्रणाली, जिसके द्वारा वह भक्त को लघु से महत् की ओर अग्रसर करके उसे स्वयं भी महत् बना देता है।

मानस में विविध पात्रों के माध्यम से भक्ति की इस व्यापकता और उसकी मनोवैज्ञानिक प्रणाली पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जहाँ राम के समीप आने वाले पात्रों में अनेक हार्दिक स्नेह से प्रेरित होकर आते हैं। वहाँ कई ऐसे भी हैं, जो आवश्यकताओं से पीड़ित होकर राम के पास आये। राम के मुख्य सखाओं के रूप में माने जाने वाले तीन पात्र, त्रिविध भावना के दृष्टान्त लगते हैं। वे हैं निषादराज, कपिराज सुग्रीव और राक्षसेन्द्र विभीषण। इन तीनों के चरित्र में क्रमशः हार्दिकता, भय और लोभ की भावनाओं का दर्शन किया जा सकता है।

निषादराज और राम के सम्बन्ध एकदम हार्दिक स्नेह की भूमि पर आधारित हैं। इनकी राम से जीवन में कोई प्रतिदान पाने की आकांक्षा नहीं है। इन्हें तो जैसे राम की पीड़ा में भाग बटाने का आकांक्षा हो, उन्हें सुखी करने की चेष्टा हो। यह भक्ति का परिपाक उस स्थिति तक हो गया है; जब उसे 'सहज-प्रेम' कहा जाने लगता है। भगवान् राम वन में जा रहे हैं तो सखा सुनकर विह्वल हो गया। भेंट लेकर सपरिवार भगवान् राम के सन्निकट जाता है। भगवान् राम उसे हृदय से लगा लेते हैं। तब वह भगवान् राम से अनुरोध करता है कि शृंगवेरपुर में ही निवास करें, क्योंकि यह गाँव तो आपका ही है, और वह तो सपरिवार आपका सेवकमात्र है। 'राम' पिता की आज्ञा से किसी ग्राम में प्रविष्ट नहीं हो सकते, यह सुनकर उसे अपार स्नेह-पीड़ा होती है। गोस्वामीजी ने उसके स्नेह का बड़ा ही मार्मिक चित्र उपस्थित किया है—

यह सुधि गुहँ निषाद जब पाई। मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई॥

लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा॥

करि दंडवत भेंट धरि आगें। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागें॥

सहज सनेह बिबस रघुराई। पूँछी कुसल निकट बैठाई॥
 नाथ कुसल पद पंकज देखें। भयउँ भागभाजन जन लेखें॥
 देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥
 कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ। थापिय जनु सबु लोग सिहाऊ॥
 कहेउ सत्य सबु सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥
 बरष चारिदस बासु बन मुनि ब्रत बेषु अहारु।

ग्राम बासु नहिं उचित सुनि गुहहि भयउ दुखु भारु॥ २/८७/१ से

आगे चलकर वह राम के साथ यात्रा करता है। बड़ी कठिनाई से प्रयाग के पास से निषाद को लौटाया जा सका। निषाद के विशाल हृदय की झाँकी तो तब देखने को मिलती है, जब भरत को सेना समेत चित्रकूट की ओर बढ़ते देख उसका प्रेमिल हृदय संशयालु हो उठा। क्या भरत भगवान् राम पर आक्रमण करने के लिए जा रहे हैं ? ऐसी कल्पना होते ही वह अपने थोड़े से ग्रामीण सहयोगियों को साथ लेकर युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। उस समय निषाद का शौर्य, राम के प्रति उत्कृष्ट प्रेम, त्याग और बलिदान की भावनाएँ (जो भक्त के जीवन में होनी ही चाहिए), वहाँ प्रत्यक्ष मूर्तिमती दिखायी देती हैं—

सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जितत न सुरसरि उतरन देऊँ॥
 समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा॥
 भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू। बड़े भाग असि पाइअ मीचू॥
 तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥

२/१८६/२ से

पर सभी लोग निषाद के समान महान् नहीं होते। फिर भी उनकी गणना भक्तों में की जाती है। इसके अच्छे दृष्टान्त, राम-सखा सुग्रीव हैं। बालि के भय से संत्रस्त सुग्रीव प्रवर्षण पर्वत पर निवास करते हैं और वे इतने आतंकित थे कि राम और लक्ष्मण को दूर से देखकर काँप उठे। उन्हें यही लगा कि सम्भव है, बालि ने मेरे वधार्थ, इन वीरों को यहाँ भेजा हो ! इसी की वास्तविकता जानने के लिए हनुमान्जी को भेजा गया था। सुग्रीव से राम ने मैत्री स्थापित किया है। बालि का वध कर, उनका भय दूर किया। राज्य-प्राप्ति हुई। फिर भी सुग्रीव की सारी दुर्बलताएँ तत्काल दूर हो गयी हों, ऐसा नहीं हुआ। उनकी

विषय-परायणता के दृष्टान्त मानस में प्रकट हैं। तब भी भगवान् राम ने उन्हें मित्र के रूप में प्रधानमन्त्री पद पर स्वीकार किया—

बालि त्रास ब्याकुल दिन राती। तन बहु ब्रन चिंताँ जर छाती॥
सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपाल रघुबीर सुभाऊ॥

४/११/३ से

फिर धीरे-धीरे सुग्रीव में सजगता आती है। राम की सेवा के लिए स्वयं प्रस्तुत होते हैं। दूसरों को प्रेरणा देते हैं। लंका-युद्ध में ससैन्य उपस्थित होकर विजय के लिए प्रयास करते हैं।

तीसरे सखा विभीषण हैं। जिनमें हार्दिक स्नेह का अभाव तो नहीं कहा जा सकता; फिर भी वासना और लोभ का पुट उनमें था ही। रावण द्वारा अनादृत होकर भगवान् राम की शरण में जाते हुए उनके मन में यह बात आ ही गयी कि 'लंका का राज्य मुझे प्राप्त होना चाहिए'। इसीलिए गोस्वामीजी के शब्दों में उन्होंने राम को 'दान के दाता' के रूप में देखा—

दूरिहिं तैं देखे दोउ भ्राता। नयनानंद दान के दाता॥ ५/४४/२

भगवान् राम ने विभीषण की आकांक्षा को भी पूर्ण किया। उन्हें निकट आते ही 'लंकेश' कहकर सम्बोधित किया। समुद्र के जल से यह कहते हुए अभिषेक किया कि 'मित्र ! तुममें इच्छा तो नहीं है, परन्तु मैं तो स्वयंश रक्षार्थ यह दान दे रहा हूँ'। यही राम का उदार स्वभाव है, जो माँगने वाले को आवश्यकता-ग्रस्त न मानकर स्वयं में ही आवश्यक कर्तव्य स्वीकार कर लेते हैं—

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिऐँ दस माथ।

सोइ संपदा बिभषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥ ५/४६

विभीषणजी भी राम के उदात्त औदार्य को देखते हुए स्वयं के जीवन को राम के आदर्श की पूर्ति में प्रस्तुत करते हैं। इसप्रकार इन तीन सखाओं के माध्यम से गोस्वामीजी ने भक्ति की व्यापकता पर अच्छा प्रकाश डाला।



भक्ति

मानस के विविध प्रसंगों में भक्ति का अनेक रूपों में चित्रण किया गया है। वह चित्रण इतना विस्तृत है कि मात्र इसी के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की अपेक्षा है। यहाँ केवल उसकी सांकेतिक चर्चा की जा रही है। भक्ति के साथ अनेक शब्दों को जोड़कर उसके सूक्ष्म भेदों पर ध्यान आकृष्ट किया गया है—

भावना-भेद	साधना-भेद 'क'	साधना-भेद 'ख'
१. अनन्य भक्ति	१. सत्संगरूपा	१. श्रवण
२. भेद भक्ति	२. कथाश्रवण	२. कीर्तन
३. निर्भरा भक्ति	३. गुरु भक्ति	३. स्मरण
४. अनपायनी भक्ति	४. गुणगायन	४. पादसेवन
५. अविरल भक्ति	५. मन्त्र जप	५. अर्चन
६. विमला भक्ति	६. दम-शील	६. वन्दन
	७. सर्व ईशमय	७. दास्य
	८. अदोषदर्शन	८. सख्य
	९. सरलअन्तःकरण	९. आत्म निवेदन

स्वयं गोस्वामीजी व्यक्तिगतरूप से 'निर्भरा-भक्ति' के आराधक हैं। भगवान् राम से उन्होंने इसी भक्ति की याचना किया—

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च ॥

५/श्लोक-२

निर्भरा भक्ति में साधना की प्रधानता न होकर कृपा की प्रधानता है। यों

तो समग्र भक्तिशास्त्र में कृपा को महत्त्व प्राप्त है; परन्तु निर्भरा भक्ति, शुद्ध भावना तथा कृपा का मार्ग है। फिर भी नवधाभक्ति के क्रम में विविध साधनों का उल्लेख है, जिनसे भगवान् प्रसन्न होते हैं—

नव महुँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥

३/३५/६-७

पर क्या यह सम्भव है कि इन साधनों के अभाव में भी उन्हें प्रसन्न किया जा सके ? इसी का उत्तर निर्भरा भक्ति के रूप में दिया जाता है। सुतीक्ष्ण प्रसंग में गोस्वामीजी ने इसकी परिभाषा स्पष्ट की है। सुतीक्ष्ण को राम-आगमन समाचार प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता हुई; और स्वागत के लिए दौड़ पड़े। हठात् मार्ग में चलते-चलते घोर निराशा ने घेर लिया; क्योंकि उन्हें स्वयं में समग्र साधनाओं का अभाव दिखायी दिया—

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥
प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥
हे बिधि दीनबन्धु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाय।॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मनमाहीं॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥

३/६/१ से

निराशा की इसी पृष्ठभूमि में ही निर्भरा भक्ति का उदय होता है; जब कि भक्त का ध्यान अपनी योग्यता से हटकर राम के स्वभाव पर केन्द्रित हो जाता है। जिसके जीवन में अन्याश्रयता का सर्वथा अभाव है, वे निराश्रित भक्त राघवेन्द्र को अतीव प्रिय हैं—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

३/६/८

भौतिक दृष्टान्त में इसे 'माँ एवं नन्हें शिशु में' देखा जा सकता है। माँ की गोदी का नन्हा शिशु, अपनी किसी योग्यता अथवा कर्तव्य परायणता द्वारा माँ को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। उस बालक के प्रति माँ का स्नेह सर्वाधिक

होता है। इसका एकमात्र कारण माँ के प्रति नन्हें बालक की निर्भरता है, वह अपनी सारी आवश्यकताओं के लिए माँ पर आश्रित है। सर्वतोभावेन, किसी का स्वभाव, किसी की कृपा पर आश्रित होकर निश्चित हो जाना ही निर्भरता है। राम मेरी योग्यता से नहीं, अपितु आश्रय-हीनता देखकर प्रसन्न हो जायेंगे। यही वह निष्कर्ष था जो कि सुतीक्ष्णजी को आनन्द-मग्न कर देता है। इस प्रसंग में उनकी निश्चिन्तता की भावना के लिए गोस्वामीजी ने 'निर्भर प्रेम' शब्द का प्रयोग किया है—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥

३/६/१०

सुन्दरकाण्ड में, ठीक इन्हीं अर्थों में हनुमान्जी के लिए भी इसी शब्द का प्रयोग किया गया है। जानकीजी हनुमान् पर अत्यन्त प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती हैं। अनेक आशीर्वादों में से एक आशीर्वाद बड़े महत्त्व का था— 'राम तुमसे प्रेम करें'। 'राम के चरणों में तुम्हारा प्रेम हो' ऐसा भी वरदान हो सकता था ! किन्तु इस वरदान में कर्तव्य एवं करणीयता रह ही जाती। पर माँ ने अपने बालक को पूर्णरूप से कर्तव्य-मुक्त कर दिया। हनुमान्जी के लिए इससे अधिक सन्तोष की क्या बात हो सकती थी ? माँ से उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए यही कहा कि आपने मुझे कृतकृत्य कर दिया—

करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना। निर्भर प्रेम मगन हनुमाना ॥

५/१६/४

गोस्वामीजी स्वयं को साधन-विहीन बालक के रूप में ही मानते हैं। इसीलिए उन्होंने भी निर्भरा भक्ति की याचना की। याचना के लिए सुन्दरकाण्ड का चुनाव भी गोस्वामीजी के भावुक हृदय की ही सूचना देता है। गोस्वामीजी हनुमान्जी को अपने आचार्य-रूप में स्वीकार करते हैं। इसी काण्ड में हनुमान्जी को जगज्जननी सीताजी ने पुत्र-रूप में स्वीकार किया और उन्हें निर्भरा भक्ति का आशीर्वाद दिया। हनुमान्जी द्वारा जानकी का समाचार पाकर प्रभु की प्रसन्नता की भी कोई सीमा नहीं है। अतएव गोस्वामीजी इसे सर्वश्रेष्ठ सुअवसर के रूप में देखते हैं एवं स्वयं के लिए निर्भरा भक्ति की याचना कर लेते हैं। याचना को दृष्टिगत रखकर ही गोस्वामीजी ने इस काण्ड के प्रारम्भ

में राघवेन्द्र की वन्दना 'भूपालचूडामणिम्' के रूप में किया—

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं

ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्।

रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं

वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम्॥ ५/श्लोक-१

क्रमिक रूप से भक्ति के उदय की पद्धति का वर्णन राम-लक्ष्मण संवाद में किया गया है। लक्ष्मण के अनेक प्रश्नों में एक प्रश्न यह था कि 'कहहुँ सो भगति करहु जेहि दाया'। इसके उत्तर में भगवान् राम ने भक्ति की सराहना करते हुए इसकी साधन-पद्धति का संकेत किया। भक्ति की पृष्ठभूमि के रूप में वहाँ कर्तव्य पालन को स्वीकार किया गया है—

भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी॥

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज-निज कर्म निरत श्रुति रीती॥

एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥

३/१५/५

यहाँ भक्ति का उल्लेख, धर्म के रूप में किया गया है। इस प्रकार यहाँ धर्म के दो रूप स्वीकार किये गये—(१) सामाजिक धर्म और (२) भागवत धर्म। सामाजिक धर्म, जिसे शास्त्रीय धर्म कह सकते हैं। इसका पालन करने से विषयों से वैराग्य होता है और तभी जीवन में भागवत धर्म की आवश्यकता का अनुभव होता है। इस प्रणाली के किञ्चित् स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

प्रारम्भिक स्तर में व्यक्ति के जीवन की जो कल्पना हो सकती है, उसमें विषय और कर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन में इन्द्रियों की वृद्धि के लिए विषय की और विषय के लिए कर्म की आवश्यकता है, पर विषयों की आकांक्षा और इसके लिए किये जाने वाले कर्म को अनियन्त्रित-गति नहीं प्राप्त होनी चाहिए। क्योंकि तब सभी लोग केवल अपने लिए ही अधिकाधिक विषय चाहेंगे, और तभी विषय-साधन के लिए किसी प्रकार का भी कर्म करने में संकोच का अनुभव नहीं करेंगे। अतएव शास्त्रों ने व्यक्ति की विषयाकांक्षा और कर्म के नियमन के लिए 'विधान' बनाया। जो लोग उस विधान को अस्वीकार करते हैं;

शास्त्रीय भाषा में उन्हें 'पामर' की संज्ञा दी जाती है। शास्त्रीय रीति से विषय सुख के लिए किए जाने वाले कर्म को ही 'धर्म' की संज्ञा दी गयी है। शास्त्रीय पद्धति के अनुगमन का तात्पर्य यही है कि हमें दूसरों की आवश्यकता और अभावों का पूर्ण ध्यान है। अतः वे कर्म किसी सीमा तक कल्याणकारी भी है। यथा, मनुष्य में कामेच्छा है; उसे नियन्त्रित तृप्ति देने के लिए विवाह-पद्धति का निर्माण किया गया और यह विवाह धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसी प्रकार विविध विषयों का नियमन-विधान शास्त्रों में बना दिया गया। धर्म का फल इह लोक में सुख-प्राप्ति के साथ स्वर्ग की प्राप्ति भी है, पर स्वर्ग का स्वरूप यही है कि जहाँ हमें विषयोपयोग के महान् साधन उपलब्ध हों; और हम बिना जरा-मृत्यु-भय के उनका उपयोग कर सकें।

सीमित अर्थों में समाज के लिए यह एक प्रेरक सिद्धान्त है। किन्तु अब प्रश्न तो यह है कि क्या व्यक्ति विषयों से तृप्त हो सकता है ? व्यक्ति तृप्ति के लिए विषय चाहता है। पर अनुभव में यह आता है कि विषय सेवन से ही अतृप्ति बढ़ती जाती है—

सेवत विषय बिबर्ध जिमि नित नित नूतन मार। ६/६२

बुझै न काम अगिनि, तुलसी, कहूँ विषय भोग बहुधी ते।

वि.प. १६८/४

अतएव अन्त में यह आशा की जानी चाहिए कि विषय द्वारा तृप्ति की उपलब्धि न होने पर व्यक्ति के मन में उन विषयों के प्रति विराग उदित होगा। तभी किसी ऐसे उपाय की खोज व्यक्ति करना चाहेगा, जो उसके जीवन की चिर अतृप्ति को दूर कर सके। चिर अतृप्ति को दूर करना, भागवत धर्म का कार्य है। काकभुशुण्डिजी अपने जीवन की अनुभूतियों को इसके समर्थन में प्रस्तुत करते हैं—

कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि-भ्रमि जग माहीं ॥

देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं की नाई ॥

७/६५/८

भागवत धर्म का श्रीगणेश नवधा भक्ति के प्रारम्भिक साधन 'श्रवण से' होता है। किसी वस्तु के माहात्म्य-ज्ञान से ही उसके प्रति रुचि का उदय होता

है। माहात्म्य ज्ञान के लिए अधिक रुचि का उदय कथा-श्रवण से होता है। मानस में ऐसे अनेक पात्रों का वर्णन है; जिन्हें श्रीराम और जानकीजी की लीलाओं को देखकर मोह हुआ। उस मोह निवारण के लिए, उन्हें कथा-श्रवण करनी पड़ी। सतीजी और गरुड़जी इसके उदाहरण हैं। इसका तात्पर्य इतना मात्र है कि माहात्म्य-ज्ञान के अभाव में चरित्र में दिखायी देने वाली प्रत्येक घटना वास्तविक प्रतीत होने लगती है।

भगवान् राम को रुदन करते देखकर, उनमें अल्पज्ञता प्रतीत होती है। उन्हें बन्धन में देखकर ऐसा लगता है कि वे शक्तिहीन हैं। कथा में इन घटनाओं के तात्पर्य पर प्रकाश पड़ता है। रंगमंच में पर्दे के पीछे होनी वाली घटनाओं का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार भक्ति के श्रीगणेश के लिए जिस माहात्म्य ज्ञान की आवश्यकता है, वह श्रवण द्वारा सम्पन्न हो जाती है। तभी हमारे मन में उस प्रभु की ओर बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

विनय-पत्रिका के एक पद में इस क्रम का, भिखारी के माध्यम से बड़ा सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। इस पद में गोस्वामीजी स्वयं को एक भिखारी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। भिखारी अकाल के कारण सन्त्रस्त है। क्योंकि जहाँ लोगों को अपने ही भोजन के लाले पड़े हों तो वे भिखारी को क्या दें ? भिखारी भी ऐसा रंगीला, जो सुस्वादु भोजन ही पाना चाहता है। समाज से निराश होकर वे सत्संग में जाकर पूछते हैं कि मुझ जैसे भिखारी के लिए कोई स्थान बताइए ! तब उन्हें यह पता दिया गया। गोस्वामीजी के शब्दों में वह चित्र यों है—भगवान् राम के द्वार पर खड़ा भिखारी पुंकार रहा है—

द्वार हौं भोर ही को आजु।

रटत रिरिहा आरि और न, कौर ही तैं काजु॥

कलि कराल दुकाल दारुन, सब कुभाँति कुसाजु।

नीच जन, मन ऊँच, जैसी कोढ़ में की खाजु॥

हहरि हियँ में सदय बूझ्यो जाइ साधु-समाजु।

मोहु से कहूँ कतहुँ कोउ, तिन्ह कह्यो कोसलराजु॥

दीनता-दारिद दलै को कृपाबारिधि बाजु।

दानि दसरथराय के तू, बानइत सिरताजु॥

जनम को भूखों भिखारी हैं गरीब निवाजु।

पेट भरि तुलसिहिं जेंवाइय भगति-सुधा-सुनाजु।। वि.प. २१६

पूर्वोक्त पद में अतृप्ति और निराशा के पश्चात् सन्तों द्वारा माहात्म्य-श्रवण से भगवान् राम की दिशा में अभिमुख होने का सजीव-चित्रण है।

श्रवण के पश्चात् व्यक्ति में उन्हीं के गुणों के कीर्तन की रुचि जाग्रत् होती है। साधारण व्यक्ति सर्वदा दूसरों के दोष-गुण-चिन्तन और अनुकथन में लगा रहता है। भक्त के जीवन में कथा-श्रवण के पश्चात् पर-दोष-दर्शन की प्रवृत्ति सर्वथा समाप्त हो जाती है। उस दोष-दर्शन की प्रवृत्ति का सदुपयोग भक्त स्वदोष-दर्शन में करता है। अपनी त्रुटियों को जान लेना भी दोष-विनाश की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण पग है। पर सबसे महात्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि भक्त के जीवन में पर-दोष-दर्शन के अभाव के साथ, पर-गुण-वर्णन की भावना भी समाप्त हो जाती है। गोस्वामीजी जिस 'रहनि की' याचना, भगवान् राम से करते हैं, उसमें 'पर गुण नहिं दोष कहौंगो' की बात कही गयी है। गुण तो एकमात्र राम के हैं; अतएव गुण-गायन भी उन्हीं भगवान् राम का किया जाना चाहिए। शबरी के प्रति कही गयी नवधा भक्ति में, इसे चतुर्थ भक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है—

चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान। ३/३५

किन्तु पिछले पृष्ठों में वर्णित नवधाभक्ति के क्रम में 'गुण-गान' द्वितीय भक्ति है।

कीर्तन के पश्चात् तृतीय भक्ति 'स्मरणरूपा' है। गुणगान में बहिरंगता है; और स्मरण में अन्तरंगता। गुण-कीर्तन तो केवल वाणी से किया जा सकता है; पर स्मरण तो मन द्वारा ही हो सकेगा। स्मरण आना राग का लक्षण है। जिन वस्तुओं को हम चाहते हैं, जिनसे व्यक्ति का राग होता है; अप्रयास उनकी स्मृति आती रहती है। श्रवण-कीर्तन में जहाँ बाह्य इन्द्रियों का प्रयोग है; वहाँ स्मरण में सूक्ष्म मन का। इस प्रकार भक्ति जीवन में क्रमशः प्रविष्ट हो रही है। स्मरण दो प्रकार का होता है— 'खण्ड और अखण्ड'। स्मृति में, निरन्तरता बनी रहे, एक क्षण के लिए विस्मृति न हो। पर यह स्थिति सिद्ध-स्थिति को सूचित करती है। साधनकाल में ऐसी अविच्छिन्न स्मृति सम्भव नहीं है। फिर

भी स्मृति क्रमशः प्रगाढ़ होती जाती है। शबरी-प्रसंग में कथित नवधा भक्ति क्रम में इसकी तुलना 'जप' से की जाती है। जप भी स्मरण की ही एक परिपाटी है। मानस में जप और स्मरण को समान अर्थों में प्रयुक्त भी किया गया है—

राम नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥ १/५६/३

तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनग अराती॥ १/१०७/१०

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखेउ रामू॥ १/२५/६

स्मरण के पश्चात् पाद-सेवन है। अर्चन, वन्दन के रूप में जिन तीन भक्तियों का उल्लेख किया गया है; वे भक्ति के क्रियात्मक अंग हैं। श्रवण-कीर्तन-स्मरण रूप में भक्ति के तीन स्वरूप, प्रारम्भिक सोपान हैं। अभी तक वह (प्रभु) परोक्ष था; अतः श्रवण-कीर्तन-स्मरण का विषय था। प्रत्यक्ष हो जाने पर इनकी परिणति सेवा, पूजा, वन्दना रूप में हो जाती है। जिसका हम स्मरण करते हैं; वह यदि सामने आ जाय तो उसकी चरण सेवा, पूजन, वन्दन करना अपना कर्तव्य ही है। इनमें अर्चन-वन्दन स्थूल रूप में भी किया जाता है और सूक्ष्म पूजन में अपने मन के विविध भावों से ही प्रभु को रिझाया जाता है। स्थूल अर्चन का भी तात्पर्य, जीव को प्रभु के सूक्ष्म अर्चन में लगाना ही है। विनय-पत्रिका में सूक्ष्म (मानस) पूजन की विधि का बड़ा ही गम्भीर एवं भावपूर्ण वर्णन है—

ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।

हरन दुखदुंद गोबिंद आनन्दघन॥

अचरचर रूप हरि, सरबगत, सरबदा बसत, इति बासना धूप दीजै।
दीप निज बोधगत-कोह-मद-मोह-तम, प्रौढ़ अभिमान चितवृत्ति छीजै॥
भाव अतिशय विशद प्रवर नैवेद्य शुभ श्रीरमण परम संतोष कारी।
प्रेम-तांबूल, गतशूल संशय सकल, बिपुल भव-बासना-बीजहारी॥
अशुभ-शुभ कर्म-घृतपूर्ण दशवर्तिका, त्याग पावक, सतोगुण प्रकासं॥
भक्ति-वैराग्य-विज्ञान दीपावली, अर्पि नीराजनं जग निवासं॥
बिमल हृदि-भवन कृत शांति-पर्यंक शुभ, शयन विश्राम श्री रामराया।
क्षमा-करुणा प्रमुख तत्र परिचारिका, यत्र हरि तत्र नहिं भेद-माया॥

आरती-निरत सनकादि, श्रुति, शेष, शिव, देवरिषि, अखिल मुनि तत्त्वदरसी ।
करै सोइ तरै, परिहरै कामादि मल, वदति इति अमल मति-दास तुलसी ।।

वि.प.-४७

स्थूल पूजा में जो सांकेतिक अर्थ छिपे हुए हैं, उसके पूर्वोक्त पद में बड़ा विचार पूर्ण विश्लेषण है। धूप का स्थूल तात्पर्य है, सारे वातावरण को सौरभ युक्त बना देना। मानसिक पूजन में धूप का बड़ा व्यापक अर्थ है। अन्तःकरण में भेद-वासना की दुर्गन्ध फैली हुई है, उसे मिटाने में बाह्य धूप समर्थ नहीं है। अतएव विवेक की नयी धूप प्रयुक्त करना है। यदि विचार में एक क्षण के लिए इस सत्य की अनुभूति हो जाय कि समस्त जड़-चेतन प्राणियों में प्रभु का निवास है तो भेद-वासना की दुर्गन्ध दूर होकर सारे वातावरण में अभेद-भावना का सौरभ व्याप्त हो जायेगा। धूप अनेक वस्तुओं के मिश्रण से निर्मित होता है; उसमें डाली जाने वाली वस्तुओं के नाम और रूप भिन्न-भिन्न होते हैं; पर अग्नि में नाम-रूप जल जाता है और रह जाता है एकमात्र सौरभ। ठीक इसी प्रकार संसार को देखिए तो इसमें भी विविधता है, और सभी आकृतियाँ पृथक्-पृथक् हैं, सबके नाम भी भिन्न-भिन्न हैं; किन्तु विचार की अग्नि में डालते ही नाम-रूप का भेद समाप्त होकर एकमात्र प्रभु-सत्ता का सौरभ रह जाता है। स्थूल धूप से सीमित भूमि और कुछ क्षणों के लिए वातावरण शुद्ध होता है; और मानस धूप से सारा ब्रह्माण्ड सर्वदा के लिए मंगलमय हो जाता है। इसीलिए लिखा गया—

अचरचर, रूपहरि, सरबगत, सरबदा बसत, इति वासना धूप दोजै ।

वि.प.-४७

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।

निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध ।। ७/११२

दीपक द्वारा प्रकाश फैलता है। बाह्य-दीप अन्तर्जीवन को प्रकाशित नहीं कर सकता। अतः निज बोध का दीपक जलाना है। निज बोध के दीप को प्रज्वलित करने की पद्धति का मानस के ज्ञान-दीपक प्रसंग में विस्तृत विवरण है। अन्तःकरण में अविद्या का घना अन्धकार छाया हुआ है। उसी अविद्या के

अन्धकार में काम-क्रोध-मद आदि को अपनी कुटिल आकांक्षाएँ पूर्ण करने का अवसर प्राप्त होता है। इसके विनाशार्थ, हमें स्व-बोध को प्रदीप्त करना होगा—
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥

७/११६/५

दीपक के पश्चात् नैवेद्य अर्पित करने का विधान है। जिसमें प्रभु मिठास और सुस्वादुता का अनुभव करें, वह स्थूल मिष्टान्न नहीं हो सकता है। उसके लिए तो अन्तःकरण की माधुर्य रसमयी भावना को ही नैवेद्य के रूप में अर्पित करना चाहिए। विनय-पत्रिका के एक पद में यह संकेत दिया गया कि भगवान् राम को लंका-विजय से लौटकर आने के पश्चात् अनेक प्रीति-भोज दिये गये; जिसमें प्रत्येक गृह-पति ने उनका महान् स्वागत किया, विविध व्यञ्जन अर्पित किये। परन्तु राम इन भोजों के पश्चात् भी शबरी के फलों की मिठास को न भूल पाये—

घर, गुरु-गृह, प्रिय-सदन, सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई॥
सो जननि ज्यों आदरी सानुज, राम भूखे भाय कै।
बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल-सागके॥

नैवेद्य के पश्चात् ताम्बूल अर्पण किया जाता है। ताम्बूल मुख-शुद्धि के लिए तो है ही; आयुर्वेद की दृष्टि में यह स्वास्थ्य के लिए भी लाभकर है। अधर-रञ्जन से यह सौन्दर्य-वृद्धि भी करता है। ताम्बूल के रूप में प्रेम को अर्पित किया जाना चाहिए। यह सर्वदा के लिए हमारे अन्तःकरण के राग से प्रभु को रञ्जित करता है। प्रेम में भी प्रभु को अपार रस की अनुभूति होती है। पूजक के अन्तःकरण की समस्त वासनाओं के बीज भी प्रेमार्पण से नष्ट हो जाते हैं।

ताम्बूल के पश्चात् आरती कीजिए ! आरती के लिए वर्तिकाएँ जलायी जाती हैं। मानव को दशेन्द्रिय द्वारा होने वाले शुभाशुभ कर्मों को दशवर्तिकाओं के रूप में परिवर्तित कर लेना चाहिए, उन्हें घृत में डुबोकर आरती-योग्य बनाना चाहिए। कर्म तो व्यक्ति की इन्द्रियों द्वारा ही होता रहता है; पर अभी वे कर्म अपने लिए होते हैं; उन्हें प्रभु की आरती के लिए प्रस्तुत करते समय

घृत रूपी स्नेह में प्लावित करना होगा। अभी तक तो इन्द्रियों द्वारा कर्म की सूखी कपास ही ओटी जा रही थी। कपास प्रारम्भ में थोड़ी प्रतीत होती है; ओटना प्रारम्भ कीजिए तो चारों ओर पहाड़-सा रूई का ढेर लग जाता है। यही स्थिति कर्मों की है। वर्तिका बनाते समय रूई को बटकर फैलाव कम कर लेते हैं; फिर स्नेह में डुबोकर उन्हें जलने योग्य बना लेते हैं। कर्मों को समेटकर उन्हें स्नेह-रस में डुबोने के पश्चात् जलाकर आरती कीजिए ! प्रभु के निमित्त किया जाने वाला कर्म प्रकाश देता हुआ अन्त में जलकर समाप्त हो जाता है। अब जीव में कृतकृत्यता का उदय होगा। यही वह स्थिति है; जबकि चारों ओर भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की दीपमालिका का प्रकाश जगमगा उठता है।

इन समस्त प्रक्रियाओं के अन्त में हृदय के एकान्त कक्ष में जहाँ पूर्ण स्वच्छता हो चुकी है, वहाँ शान्ति के पर्य पर 'रामभद्र को' शयन कराना चाहिए। सेवा के लिए क्षमा-करुणा को परिचारिका के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए। ऐसे हृदय में भेद-भाव की माया का प्रवेश नहीं है। गोस्वामीजी ने बताया कि यही वह अर्चना मानस पूजा है; जिसमें सनकादि, वेद, शेष, शिव, देवर्षि, तत्त्वदर्शी समस्त मुनि आदि लगे रहते हैं। इस प्रकार की अर्चना से जीव का कल्याण हो जाता है। पाद सेवन-अर्चन-वन्दन भक्ति के मध्य सोपान के पश्चात् अवशिष्ट तीन भक्तियाँ शुद्ध भावात्मक हैं; जिनमें क्रमिक रूप से 'सम्बन्ध' प्रगाढ़तम तक होता जाता है। वे हैं-दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। 'प्रभु स्वामी हैं; और मैं सेवक हूँ', यह प्रथम अनुभूति है। स्नेह-प्रगाढ़ता के क्षणों में वही प्रभु अपना प्राण-सखा लगने लगता है के पश्चात् तब एक दिन ऐसा आ जाता है कि अब एक सम्बन्ध की सीमा में न रहकर उन्हें 'आत्मसमर्पण' करके ऐसी अनुभूति होती है कि जैसे कोई दूरी न रह गयी हो, 'एक' हो जायँ, वैसी स्थिति हो जाती है; जिसका उल्लेख गोस्वामीजी ने राम-भरत के मिलन-प्रसंगों में किया। जब राम-भरत की अनुभूतियाँ समाप्त हो गयी तो शेष रहा 'शुद्ध-प्रेम'। चित्रकूट में—

परम पेम पूरन दोउ भाई। मन-बुधि-चित-अहमिति बिसराई ॥

कहहु सुपेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई ॥

२/२४०/२ से

व्यक्ति के जीवन में भक्ति का उदय हो जाने पर वह भक्त कर्म से बिरत हो जाता हो, ऐसा नहीं है। पर अब कर्म का प्राचीन आधार समाप्त होकर नवीन आधार पर उसके कर्म होते हैं। प्रारम्भ में व्यक्ति जो कार्य करता है, उसका केन्द्र होता है 'शरीर'। उसे सुखी करने के लिए शरीर की और उससे सम्बन्धित लोगों की सेवा करता है। भक्ति में क्रिया तो है, परन्तु केन्द्र परिवर्तित हो गया। सुमित्रा माँ के शब्दों में, अब राम को केन्द्र बनाकर सम्बन्ध का निर्धारण होना चाहिए—

पूजनीअ प्रिय परम जहाँ तैं। सबु मानिअहिं राम के नातें॥

२/७३/७

राम का नत्ता मान लेने पर अब सेवा का क्षेत्र बड़ा व्यापक हो गया। क्योंकि शरीर के सम्बन्ध जहाँ सर्वथा ससीम हैं; वहाँ भगवान् राम सबमें हैं; अतएव भक्त द्वारा प्रत्येक की सेवा होगी। किन्तु भक्त की दृष्टि में केवल राम की सेवा करना होगा। इस मान्यता का प्रश्न कितना महत्वपूर्ण है? मानस के अध्येताओं को इस पर पूर्ण विचार करना चाहिए। भक्ति के स्वरूप और विकास का जो क्रम भगवान् राम ने यहाँ स्वीकार किया है, उसे आधार बनाया जाना चाहिए। मानस में कर्तव्य कर्म का प्रारम्भिक तथा अन्तिम स्वरूप क्या है? इसे भगवान् राम ने पंचवटी में लक्ष्मण के प्रश्न का उत्तर देते हुए स्पष्ट कर दिया—

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥

गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

काम आदि मद दंभ न जाकैं। तात निरंतर बस मैं ताकैं॥

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।

तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥ ३/१५/६ से

साधारणतया मानस प्रतिपादित भक्ति को लोक धर्म से कोई भेद अथवा विरोध प्रतीत नहीं होता। पर इससे एक भ्रान्ति फैलने की सम्भावना है। ऐसी भ्रान्ति, जैसा लोगों को गीता के कर्म और कर्मयोग में हो गयी है। बहुधा पठित समाज में गीता की प्रशंसा की जाती है कि गीता में कर्म का प्रतिपादन है, ऐसा कहकर तथाकथित प्रशंसक यह दिखाना चाहता है कि वह गीता की विचार-

धारा को स्वीकार कर चुका है। यदि गीता में कर्म का समर्थन है तो उसके समर्थन की कोई अपेक्षा न थी; क्योंकि वह तो व्यक्ति करता ही रहता है। कर्म करना व्यक्ति की लाचारी है। गीता का तो मुख्य उद्देश्य यह है कि फलाकांक्षा छोड़कर अकर्ता के रूप में कर्म को कीजिए। अब 'अकर्तव्य' को एक ओर फेंक कर गीता के कर्मयोग को कैसे 'कर्म' बना लिया गया है ? इसी प्रकार मानस में लोक धर्म के प्रशंसकों ने परिस्थिति उत्पन्न कर दी है।

जीवन के समस्त अंगों पर गोस्वामीजी की व्यापक दृष्टि पहुँची। इन्होंने सभी पर कुछ न कुछ प्रकाश डाला। इनके दृष्टिकोण के प्रति उचित विचार करने के लिए यह अत्यधिक आवश्यक है कि हम उन पर किसी ऐसी विशेषता को आरोपित करने का प्रयास न करें, जो उनकी मूल-भावना के विपरीत हो दुर्भाग्यवश ऐसा ही प्रयास हुआ है ! यद्यपि इसके मूल में सद्भाव की भावना कार्य करती रही है। बहुधा यह कहा जाता है कि मानस में गोस्वामीजी ने विविध पात्रों के माध्यम से लोक-धर्म का निरूपण किया है। भरत-राम का भ्रातृ-प्रेम, राम की पितृ-भक्ति, सती का पातिव्रत धर्म आदि हमें व्यवहार का उपयुक्त शिक्षण मात्र प्रदान करता है। एक सीमा तक इसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होने पर भी इसे सैद्धान्तिक सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि मानस इन विविध धर्मों के स्थान पर केवल एक ही धर्म प्रतिष्ठापित करना चाहता है, वह है भक्ति-धर्म। लोक-धर्म गोस्वामीजी को उसी सीमा तक स्वीकार है, जहाँ तक वह भक्ति-धर्म का अविरोधी है। यदि मानस की मन्दोदरी रावण-मृत्यु के पश्चात्, रावण की निन्दा और राम की सराहना करती है तो यह भक्ति के प्रवाह में लोक-धर्म की क्षणिक विस्मृति नहीं है। मानसकार की दृष्टि भक्ति-सिद्धान्त पर आधारित है। अब यह लोक-धर्म को सोचना है कि वह किस सीमा तक भक्ति के साथ चल सकता है।

भरतजी के भगवान् राम-प्रेम को हम चाहे जितना भ्रातृ-प्रेम के दृष्टान्त के रूप में उपस्थित करें; पर वह मात्र ऐसा ही नहीं है। मानस की पंक्तियाँ इसकी साक्षी हैं कि उनके भ्रातृ-प्रेम का वास्तविक स्वरूप 'भगवत्प्रेम' है। भरत की दृष्टि के श्रीराम उनके ज्येष्ठ भ्राता मात्र नहीं हैं। वे तो भरत के लिए 'केवल कृपा तुम्हारिहिं चिदानन्द संदोह' के रूप में साक्षात् ब्रह्म हैं। भगवान् राम का

स्वयं भरतजी के लिए राज्य-त्याग, भ्रातृ-प्रेम का उपयुक्त उदाहरण नहीं है। भ्रातृ-प्रेम के आदर्श के रूप में भगवान् राम के इस व्यवहार को स्वीकार कर लेने पर आगे चलकर अनेक प्रश्न उठ खड़े होंगे। भगवान् राम इस भ्रातृ-प्रेम को केवल स्वयं के जीवन तक ही सीमित रखना चाहते हैं अथवा समस्त समाज के प्रति प्रचारित करना चाहते हैं ? भगवान् राम इसे केवल स्वयं के जीवन तक ही रखते हैं, यह कहना तो उनके व्यक्तित्व का अनादर करना होगा। क्योंकि योग्य व्यक्ति जिस वस्तु को श्रेष्ठ रूप में स्वीकार करता है; उसे सभी लोगों के जीवन में प्रतिष्ठापित देखना चाहता है; पर स्वयं राम की वन यात्रा वाली घटनाएँ इससे विपरीत हैं। बालि का वध कर, वे सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बना देते हैं। विशेष रूप से ऐसी परिस्थिति में जबकि सुग्रीव युद्ध के पूर्व बालि से युद्ध करना अस्वीकार करते हुए दिखायी देते हैं—

बालि परम हित जासु प्रसादा । मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा ॥

सपनें जेहि सन होइ लराई । जागें समुझत मन सकुचाई ॥

४/६/१६-२०

रावण और विभीषण में भी तो भाई का सम्बन्ध है। पर वहाँ पर भी वे रावण का वध करने के लिए ही प्रस्तुत नहीं होते; अपितु रावण-वध का उपाय भी विभीषण से जानना चाहते हैं—

मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा । राम बिभीषन तन तब देखा ॥

६/१०१/२

ये दृष्टान्त अपनी कहानी स्वयं कह रहे हैं। समस्त व्यवहार का पालन करते हुए भी वस्तुतः सर्वत्र भगवान् हैं, उनके निकटस्थ पात्र से उनका सम्बन्ध भले ही कोई भी क्यों न हो, अन्ततोगत्वा वे 'राम-भक्त' हैं, ऐसा माना जायेगा। अतएव मानस की दृष्टि में सिद्धान्ततः यदि कोई लोक धर्म है तो वे सब धर्म एकमात्र 'भक्ति' है। इसमें कोई संशय नहीं कि लोकधर्म की सराहना में कितने ही गीत क्यों न गाये जाँय; सामाजिक व्यवस्था में वे दूर से ही आकर्षक प्रतीत होते हैं। व्यावहारिक रूप में वे हवाई किले बालुका-भित्ति से अधिक कुछ नहीं हैं। कटु सत्य तो यह है कि भक्ति-विहीन लोकधर्म ने मुक्ति

के स्थान पर 'बन्धन' और शान्ति के स्थान पर 'संघर्ष' का ही सृजन अधिक किया है। दुराग्रहों से पृथक् होकर इस सत्य को देखने की चेष्टा करें ? लोकधर्म का मूलकेन्द्र ही अवास्तविक है। क्योंकि उसके समग्र सम्बन्धों का आधार है 'शरीर'। शरीर का जन्म हुआ तो माता-पिता के सम्बन्ध का सृजन हुआ। इसी प्रकार एक ही उदर से जन्म होने से 'सहोदर' भाई का नाता जुड़ा। व्यक्ति के निर्माण के लिए अनुशासन और आज्ञापालन की आवश्यकता तो है ही, अतः बालक में कृतज्ञता हो, आज्ञापालन हो, यह तो ठीक ही है। पर इस चित्र का दूसरा पहलू भी है। जो भावना केवल समग्र जीवन-दर्शन के लिए एक साधन मात्र है, वह भावना साध्य बन बैठती है। कल्पना करें कि एक सैनिक जिसे व्यायाम (पी०टी०) करना पड़ता है, कष्ट उठाने की शिक्षा दी जाती है इसीलिए कि देश पर संकट देख समग्र शक्ति से उसका प्रतिरोध कर सके। पर वैसे सैनिक को आप क्या कहेंगे, जो व्यायाम (पी०टी०) को ही सर्वस्व मानकर, उसमें ही संलग्न रहे, संकट आने पर बलिदान के लिए प्रस्तुत न हो ? इसी प्रकार माता-पिता, भाई आदि के प्रति महत्त्व बुद्धि उदित कराने का उद्देश्य भी वस्तुतः व्यक्ति को केवल अहंवादी होने से बचाना ही है। इस सम्बन्ध विस्तार की अन्तिम परिणति अपने को विराट् के प्रति अर्पित कर देने में है। जब इन सम्बन्धों की भावात्मक सराहना को व्यक्ति ठोस सत्य मान लेता है, तब विराट् की ओर अभिमुख होने के स्थान पर छोटे-छोटे समूहों का निर्माण होता है; फिर वे स्वयं को कर्तव्य परायण समझते हुए भी 'संघर्षरत' रहते हैं।

विभीषण को बहुधा लोग आलोचना की दृष्टि से देखते हैं। कहा जाता है कि वह देश-द्रोही था, भ्रातृ-द्रोही था। जिन लोगों को रावण के कार्यों में कोई अनौचित्य नहीं दिखायी देता है; यदि वे लोग विभीषण की ऐसी आलोचना करें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। किन्तु आश्चर्य तो तब होता है, जब ऐसे लोग भी इस प्रकार की बात करते हैं, जो रावण को अत्याचारी और उसके कार्यों को अन्याय पूर्ण मानते हैं। स्पष्ट है कि इस धारणा का कारण वह संस्कार हैं; जो कि भाई कैसा भी क्यों न हो, उसका साथ नहीं छोड़ना चाहिए। मानस में स्वयं कुम्भकर्ण इसी संस्कार और दुर्बलता से ग्रस्त है; वह रावण के कार्यों की

निन्दा करता है, उसे 'राम-भक्ति' का उपदेश बड़े कवित्वमय शब्दों में देता है, इसी आदर्श की ओर इंगित किया गया है।

सुवर्ण-रत्न विरचित लंका को आज्ञनेय कुछ क्षणों में भस्मीभूत कर देते हैं; क्यों ? राजयक्ष्मा जैसे असाध्य रोग के लिए आयुर्वेद में 'मृगारस' (चन्द्रोदय) को उपयोगी बताया गया है। मृगारस में स्वर्ण, पारद, गन्धक की विशेषता रहती है। गोस्वामीजी कल्पना करते हैं कि विराट् के हृदय में रावण के समान राजरोग उत्पन्न हो गया। हनुमान् हैं साक्षात् शंकरावतार, समष्टि अहं के देवता और त्रिभुवन गुरु। 'सद्गुरु बैद बचन बिश्वासा' के अनुकूल त्रिभुवन गुरु ने विराट् को रावण जैसे राजरोग से सन्त्रस्त देखकर मृगारस देने का निश्चय किया। इसी का परिणाम था 'लंका-दहन'। विराट् के लिए जिस असाधारण यात्रा में मृगा की अपेक्षा थी, उसके लिए लंका को छोड़, अन्यत्र इतना सुवर्ण-रत्न, कहाँ उपलब्ध हो सकता था—

रावनु सो राजरोगु बाढ़त बिराट-उर, दिन-दिनु बिकल, सकल सुख राँक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर, सिद्ध, मुनि, होत न बिसोक, ओत पावै न मनाक सो॥
राम की रजायतें रसायनी समीरसूनु उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो।
जातुधान-बुट पुटपाक लंक-जातरूप-रतन जतन जारि कियो है मृगांक-सो॥

कवितावली-५/२५

हनुमान्जी के सारे कार्यों को बदले की भावना से प्रेरित मानने की अपेक्षा इस कविता के प्रकाश में देखना, मानस के आदर्श को अधिक सही रूप में समझना है। मानस के श्रीराम एक व्यक्ति के रूप में दिखायी देने पर भी 'विराट्-पुरुष' हैं। यद्यपि गोस्वामीजी इससे भी अधिक अनेक विराटों के अधिष्ठान रूप में 'श्रीराम' को स्वीकार करते हैं। मन्दोदरी के शब्दों में—

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।

लोक कल्पना बेद कर अंग-अंग प्रति जासु॥ ६/१४

अतएव 'राम-प्रेम' को केन्द्र बनाकर विचार करने वाला मानस को शरीर-सम्बन्धी केन्द्र के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। मानस की सुमित्रा अम्बा लक्ष्मणजी को जो उपदेश देती हैं; उसमें यह सत्य स्पष्ट रूप से मुखरित

हो चुका है। भगवान् राम लक्ष्मणजी को अयोध्या में रोकना चाहते हैं। यहाँ राम स्वयं को एक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं; और लक्ष्मण को उपदेश देते हैं कि एक व्यक्ति के प्रेम में तात ! तुम अनेक लोगों के प्रति अपने कर्तव्यों की अवहेलना न करो !

भवन भरतु रिपुसूदन नाहीं । राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं ॥
 रहहु करहु सब कर परितोषू । नतरु तात होइहि बड़ दोषू ॥
 जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी । सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ॥

२/७०/२ से

भगवान् राम के इस उपदेश को लक्ष्मणजी स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। उन्हें उपदेश के औचित्य में कोई भी सन्देह नहीं है। फिर भी इस उपदेश पालन से प्राप्त होने वाली वस्तुओं के प्रति उन्हें रञ्चमात्र आकर्षण नहीं है; अतएव वे स्पष्ट कह देते हैं—

मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला । मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥
 गुर पितु मातु न जानऊँ काहू । कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
 मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी ॥
 धरम नीति उपदेसिअ ताही । कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥
 मन क्रम बचन चरन रत होई । कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई ॥

२/७१/३ से

राघवेन्द्र के पास इसका कोई प्रत्युत्तर न था; अतएव वे उन्हें माता से आज्ञा लेकर वन चलने की अनुमति देते हैं। सुमित्रा माता से आज्ञा माँगने पर लक्ष्मणजी को जो कुछ सुनने को मिला, वह उपासना-सिद्धान्त का सार-सर्वस्व है। लक्ष्मण राम की इस आज्ञा का जो अर्थ ले लेते हैं; उसमें सुमित्रा माता को आपत्ति है। राम ने कहा कि माँ से आज्ञा माँग लाओ तो क्या आज्ञा लेने के लिए लक्ष्मण को मेरे निकट आना उचित है ? क्या लक्ष्मण को माँ के रूप में मैं दिख रही हूँ ?

अब एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि यदि सुमित्रा माता लक्ष्मण को वन

जाने की आज्ञा देना अस्वीकार कर दें, तो ऐसी स्थिति में लक्ष्मणजी क्या करेंगे? यदि आज्ञा को अस्वीकृत करके लक्ष्मण को वन चले ही जाना है तो इस आज्ञा लेने आने का क्या मूल्य है ? अतएव सुमित्रा माता ने स्पष्ट शब्दों में लक्ष्मण को यह बता दिया कि तुम्हारे लिए माँ के रूप में मुझे स्वीकार करना उचित नहीं है। तुम्हारी माँ वैदेही हैं, वैदेही के पुत्र होकर 'देह' को माँ मानते हो ? एवं तुम्हारे पिता स्नेह-निधि राम हैं—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥ २/७३/२

इससे भी आगे बढ़कर उन्होंने लक्ष्मण को सैद्धान्तिक-सूत्र बताया। भक्त के सम्बन्धों का आधार शरीर नहीं होता; उसके केन्द्र तो 'राम' हैं। भक्त किसी को अपूज्य और अप्रिय नहीं मानता। फिर भी उसकी पूज्यता और प्रियता की कसौटी उस व्यक्ति का राम से सम्बन्धित होना है—

पूजनीय प्रिय परम जहाँ तैं। सब मानिअहिं राम के नातैं॥ २/७३/७

मानस के ऐसे अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि मानस के पात्रों में लोकधर्म मात्र की रक्षा है तो वह इसलिए कि उसका भागवत-धर्म से कोई विरोध नहीं है। पर जहाँ भी सामाजिक धर्म ने भक्ति को 'गौण' बनाने की चेष्टा किया; भक्तों ने उसको सर्वथा एक ओर फेंक दिया। चाहे वे लक्ष्मण के समान धर्म को अस्वीकार कर देने वाले पात्र हों, या भरत के समान धर्म के साक्षात् स्वरूप। भरत माता, गुरु, मन्त्री आदि सभी की आज्ञा और अनुरोधों को अस्वीकार करते हैं; इसीलिए कि भगवान् राम के पास जाने का दृढ़-संकल्प कर चुके हैं। अब यदि भरत के जीवन में समस्त कर्तव्यकर्मों का उत्कृष्टतम पालन है तो इसलिए कि श्रीराम ने अपनी थाती की सुरक्षा का भार भरत को सौंपा। भगवान् राम के प्रीत्यर्थ, भरतजी ने उसका पालन किया। अतएव गोस्वामीजी के ग्रन्थों में निहित सैद्धान्तिक पक्ष का सर्वश्रेष्ठ पद विनय-पत्रिका में है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी ॥
नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रानते प्यारो ।
जासौं होय सनेह 'राम-पद', एतो मतो हमारो ॥

(विनय पत्रिका-१७४)



सिद्ध-भक्त-कवि

मान्यताएँ विभिन्न होना स्वाभाविक है। प्रायः भक्त के जीवन में सिद्धि क्रम का विकास क्रमिक रूप से देखा जा जाता है। पर गोस्वामीजी ने मानस की रचना के प्रारम्भ में जब मानस-सर को प्रकाशित करना प्रारम्भ किया, उससे पूर्व ही वे साधना की चरम स्थिति को प्राप्त कर चुके थे। इसे सर्वतोभावेन स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है। मानस के सर्वतोमुखी वैशिष्ट्य और प्रतिपादन शैली से यह धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है—

कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें॥ १/८/११

कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥ ११/११/८

संभु प्रसाद, सुमति हियँ हुलसी। राम चरित मानस कबि तुलसी॥ ११/३५/१

मानस की प्रारम्भिक भूमिका में गोस्वामीजी स्वयं को कवि रूप में स्वीकार नहीं करते। पर मानस-सर के रूपक को प्रारम्भ करते हुए वे अपना परिचय 'कवि' रूप में देते हैं—'रामचरित मानस कबि तुलसी'। परस्पर विरोधी जैसे वाक्य प्रतीत होने पर भी उनकी विचारधारा को दृष्टिगत रखकर विचार करने पर कोई असंगति नहीं रह जाती। 'कवि' की अस्वीकृति केवल शिष्टजनोचित नम्रता के रूप में लेना भी सर्वथा उपयुक्त नहीं है। क्योंकि ऐसी नम्रता, जो व्यक्ति की हार्दिक धारणा के विपरीत हो, वह 'दम्भ' कहे जाने के ही योग्य है।

कवि अथवा कविता की स्वीकृति का मुख्य तात्पर्य, भक्त की व्यक्तिगत 'मैं' सम्बन्धी धारणा को प्रकट करना है। सामाजिक मान्यता के रूप में हम जब भी किसी में कोई गुण देखते हैं, वही उसकी व्यक्तिगत योग्यता मानकर, उसे आदर देने लगते हैं, उसकी पूजा करते हैं। भक्त इसप्रकार की मान्यता से सहमत नहीं होता। उसकी दृष्टि में व्यक्ति एक निमित्तमात्र है; उसके माध्यम

से 'ईश्वर' ही कार्य करता है। निमित्त बनने वाले व्यक्ति और समाज दोनों के लिए यह घातक है कि वे इसे अपनी व्यक्तिगत योग्यता के रूप में देखें। समाज में इसका दुष्परिणाम यही होता है कि अमूर्तगुणों का स्थान स्थूल शरीर ले लेता है। गुण अव्यवहार्य रह जाते हैं और व्यक्ति की पूजा प्रारम्भ हो जाती है। दूसरों के दोष-दर्शन से जो हानियाँ होती हैं; उसके विषय में बहुत कुछ कहा गया है। किन्तु गुण-वर्णन भी आदर्श-सिद्धान्त नहीं है। इसीलिए विनय-पत्रिका में, गोस्वामीजी ने प्रार्थना करते हुए कहा—

बिगत मान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो।

वि.प.-१७२/३

व्यक्ति की कृति और कर्तव्य की अस्वीकृति का तात्पर्य, व्यक्ति को तुच्छ और आत्मविश्वास-विहीन बना देना भी नहीं है; जैसी आजकल 'भक्ति के' तथाकथित समालोचकों की धारणा कार्य कर रही है। सीमित अहं से मुक्त होना, सच्चे अर्थों में दुर्बलता से मुक्त होना है। व्यक्तिगत अहं उस पंगु की भाँति है; जो दूसरों की जड़ता की लाठी का सहारा लेकर ही चल पाता है। एक व्यक्ति को धन का गर्व करने के लिए धनहीनों की अपेक्षा होती है। बुद्धिमत्ता के गर्व का आश्रय मूर्खमंडली है, इसप्रकार 'परमुखापेक्षी अहं' को जो लोग 'आत्म-विश्वास' का नाम देते हैं, वे व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की बलिवेदी पर सामूहिक हित की बलि देने के लिए व्यग्र रहने वाले माने जा सकते हैं। अपने को सामूहिक रूप में विराट् का अंग मानकर कार्य करना, धर्म का मूल आधार है; इससे सच्चे आत्म-विश्वास का उदय होता है। क्योंकि तब व्यक्ति समष्टि से जुड़ा हुआ और उसकी शक्ति से प्रभावित रहता है। यही तथ्य गोस्वामीजी के वाक्यों में भी सुस्पष्ट है।

स्वयं में कवित्व की योग्यता न होते हुए भी जब वे समष्टि अहं को 'संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी' कहकर, विराट् रूप के वर्णन में (शिव को विराट् का अहं बताया गया है—अहंकार सिव, बुद्धि अज, मन ससि, चित्त महान) शिव की कृपा का (विराट् से एकता का) अनुभव करते हैं, तब वे निःसंकोच अपने को 'कवि तुलसी' स्वीकार कर लेते हैं। गोस्वामीजी की माता का नाम हुलसी है। यहाँ गोस्वामीजी ने कितना मार्मिक शब्द कहा कि शंकर की

कृपा से सुमति, हिय में हुलसी, अब रामचरितमानस को कवि तुलसी मति के अनुरूप करता (रचता) है। यों तो हुलसी का अर्थ मुदित (उल्लसित) होता है; फिर भी संकेत यह है कि प्राचीन हुलसी का पुत्र तुलसी तो कवि न था; पर अब सुमति-हुलसी से जन्म पाकर, कवि तुलसी का द्वितीय जन्म हुआ। हुलसी द्वारा परित्यक्त बालक अनाथ और निराश्रय हो गया। पर आज शम्भु-प्रसाद से जिस सुमति-हुलसी का प्रादुर्भाव हुआ है; उसके द्वारा परित्यक्त होने की सम्भावना नहीं है।

प्रस्तुत प्रसंग में ही कवि और कविता के सम्बन्ध में गोस्वामीजी की धारणा को समझ लेना भी उपयुक्त होगा। कविता की परिभाषा के विषय में आचार्यों के अनेक मत रहे हैं। अब भी कविता के रूप और उद्देश्य के विषय में विवाद चलता ही रहता है। साधारण व्यक्ति के लिए तो छन्दबद्ध (पिंगल मतानुसार) कोई भी पंक्ति 'कविता' है। यद्यपि आधुनिक काल में छन्दों के प्राचीन मत शिथिल हो गये हैं। मुक्तक काव्य की दिशा में तीव्रगति से लोग बढ़ रहे हैं, फिर भी अधिकांश लोग मुक्तक काव्य में रस नहीं ले पाते; अनेकों के लिए तो यह कविता, कविता ही नहीं है। यहाँ इस विवाद में पड़ना अभीष्ट न होते हुए भी हम गोस्वामीजी की धारणा को स्पष्ट करना आवश्यक समझते हैं। गोस्वामी-काल में छन्द का कविता से घनिष्ठ सम्बन्ध था। कविता छन्द-विहीन हो सकती है, ऐसी कल्पना उस समय नहीं थी। गोस्वामीजी की कविता स्वयं ही विविध छन्दों में है। फिर भी उन्होंने कविता की परिभाषा करते हुए उसमें छन्द-बन्ध को कोई स्थान नहीं दिया। छन्द कविता का अलंकार हो सकता है। पर स्वयं वह छन्द रूप कविता तो है ही नहीं, यह असन्दिग्ध रूप में कहा जा सकता है। वेश और अलंकारों की रचना-शैली परिवर्तित होती रहती है। मानव मन उसमें नवीनता चाहता रहता है; फिर भी शरीर वही होता है, उसके प्राण और आत्मा की तात्त्विक स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता, अतएव कविता पर विचार करते हुए उसके मूल तात्त्विक रूप पर ध्यान देना, अभीष्ट होना चाहिए।

कविता की व्याख्या करते हुए वे उसकी तुलना 'मुक्ता-मणि' से करते हैं। मुक्ता की उत्पत्ति के विषय में प्रचलित मान्यता को ही वे एक रूपक में प्रस्तुत करते हैं—

हृदय सिंधु मति सीप समाना । स्वाति सारदा कहहिं सुजाना ॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारु । होहिं कबित मुकुतामनि चारु ॥

१/१०/६

कवि का हृदय समुद्र के सदृश है और बुद्धि सीप के समान । सरस्वती स्वाती नक्षत्र के अनुरूप हैं; जब वे श्रेष्ठ विचाररूपी वृष्टि करती हैं, तब व्यक्ति में कवित्व की मुक्ता-मणि का प्राकट्य होता है । इस रूपक द्वारा कुछ निष्कर्ष निकाला जा सकता है ।

प्रकृति की अनोखी प्रणाली से निर्मित मुक्ता की तुलना, कविता से करने का तात्पर्य यही है कि कवित्व शक्ति को वे एक 'प्राकृतिक-देन' मानते हैं । यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उनकी दृष्टि में कविता निर्मित नहीं की जाती, वरन् वह प्रकट होती है । पर उस प्राकट्य के लिए माध्यम में योग्यता की अपेक्षा तो है ही और वह योग्यता है—हृदय और बुद्धि का समन्वय । समुद्र के सदृश विशाल हृदय और सीप के समान सूक्ष्म बुद्धि । हृदय और बुद्धि का समन्वय होने पर भी कविवुद्धि हृदयानुगामी होनी चाहिए, ऐसा भी इस रूपक से स्पष्ट होता है । समुद्र में सीप की स्थिति है और उस सीप के मुख में स्वाति-विन्दु जानी चाहिए, तब कहीं मुक्ता होना सम्भव है । बुद्धि-प्रधान व्यक्ति को विचारक होना सम्भव है, कवि होना नहीं । विचारक और कवि की मनोवृत्ति में भेद है । बौद्धिक व्यक्ति विश्लेषण-प्रधान होता है, वह वस्तु को विभाजित करता है । एक वैज्ञानिक गुलाब पुष्प को प्रयोगशाला में ले जाकर टुकड़े-टुकड़े कर देता है, फिर यन्त्र के माध्यम से उसमें निहित पदार्थों को देखता है । बुद्धि अहं-प्रधान है, वह प्रत्येक वस्तु को अपनी सीमा में ले आने को व्यग्र रहती है । वैज्ञानिक किसी वस्तु की परख करके सन्तोष की साँस लेता है । बुद्धि का स्वभाव सन्तरण-शील है, वह जब डूबने का स्वाँग रचती है, तब भी वह नीचे गहराइयों की माप करने के लिए प्रयास करती है ।

हृदय वस्तु को विभाजित करना तो दूर, उसे समस्त प्रकृति के पृष्ठभूमि में देखता है, उसे गुलाब की लालिमा में, सौरभ में जड़ प्रकृति ही नहीं, सचेतन दिखायी देता है । उसकी दृष्टि में समस्त विश्व ही सचेतन है । इसी प्रकार उसमें मानव का हास, उल्लास, विरह, उच्छ्वास, सन्देश आदि सबका संकेत सुनायी

देता है। उसे रस में डूबना प्रिय है। उसे माप नहीं चाहिए, आनन्द चाहिए। बुद्धि सत्य के खोज का दावा करती है और हृदय आनन्द के। हृदय सुकुमार है और बुद्धि कठोर। सृष्टि में सौन्दर्य-दर्शन करने के लिए हृदय के नेत्र ही सक्षम हैं। पर इससे बुद्धि की व्यर्थता प्रमाणित नहीं होती। बुद्धि द्वारा जो सत्य हमें उपलब्ध होता है, वह जीवन में रक्षक सिद्ध होता है।

हृदय की यह सुकुमारता, सौन्दर्य का सूक्ष्म पर्यवेक्षण एवं आनन्द की उपासना में भी एक भय छिपा हुआ है। वह भय ऐसा है; जिसे चाहकर भी हम आँखों से ओझल नहीं कर सकते। स्वस्थ अवस्था में प्रकृति का सौन्दर्य हमें सुखी बनाता है। पर रुग्णावस्था में वैज्ञानिक की प्रयोगशाला का वनस्पति-विज्ञान ही वरदान होता है। भले ही उसने गुलाब की पंखुड़ियों को छिन्न-भिन्न कर दिया हो, वनस्पतियों को क्वाथ के रूप में परिणत कर दिया हो। निष्ठुरता तो उसमें है ही। फिर भी हमें उसकी आवश्यकता है। उसके अभाव में समस्त प्रकृति भी हमें सुखी नहीं बना सकती। अतएव बुद्धि हृदय की पूरक है। पर बुद्धि का सर्वत्र उच्छृंखल प्रवेश भी जीवन को विरस बना देता है। अतएव रसमयी कविता का प्राकट्य भी हृदय के विशाल समुद्र में जहाँ लक्ष-लक्ष सीपियाँ (बुद्धि वृत्तियाँ) निवास करती हैं, वहीं सम्भव है।

इससे भी बड़े महत्त्व का संकेत यह है कि समुद्र और सीप के होते हुए भी मुक्ता का निर्माण होना सम्भव नहीं। वैसे आजकल कत्तचर मोती बनने लगे हैं, यह तो युग ही ऐसा है, फिर भी वह सहज मुक्ता की बात ही और है। उसके लिए चाहिए, स्वाती नक्षत्र का मेघ। गोस्वामीजी की दृष्टि में वह स्वाति नक्षत्र है-‘भगवती शारदा देवी’। शास्त्रों में सरस्वती को बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में स्वीकार किया गया है। इस मान्यता के मूल में समग्र विराट् को एक इकाई के रूप में देखने की भावना है। प्रत्येक व्यक्ति में विभिन्न बुद्धियाँ दिखायी देती हैं। पर इन सबके मूल में भी एक ही शक्ति है; इस श्रेष्ठ शक्ति से स्वयं को संयुक्त करके ही हम अपने को महत् सत्य के अवतरण के उपयुक्त सिद्ध कर सकते हैं। वैयक्तिक सत्य का प्रतिपादन तो हर एक द्वारा होता है। पर विराट् सत्य की अनुभूति के लिए हमें वैयक्तिक घेरे से मुक्त होना होगा। व्यष्टि बुद्धि में जो सीप के समान रिक्ततायुक्त और ग्रहणोन्मुख होती है,

समष्टि बुद्धि से विराट् सत्य की अनुभूति होती है; वही स्वाती-शारदा की श्रेष्ठ वृष्टि होती है।

कभी-कभी हम समाज में व्यक्ति के द्विविध रूप देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। एक कवि की कविता सुनकर हमारे अन्तःकरण में उसकी जो मूर्ति निर्मित होती है; वह मूर्ति कवि के सन्निकट जाने पर चूर-चूर हो जाती है। उस समय व्यक्ति को तीव्र आघात की अनुभूति होती है। विचार करने पर इसका कारण समझा जा सकता है। आप किसी मित्र के घर में बैठे हुए अचानक सुरभित वायु के एक झोंके का अनुभव करते हैं; इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसी ने अपने भवन में वाटिका लगा रखी हो। यह भी हो सकता है कि उसके घर में दुर्गन्धित पवन बह रहा हो, पर उसकी खिड़की ऐसे स्थान पर है; जहाँ से निकटस्थ वाटिका का सुगन्धित झोंका आकर कुछ क्षणों के लिए सौरभ बिखेर जाता है। यह तो प्रकृति की कृपा है, संयोग है। एक लौकिकता से ग्रस्त व्यक्ति भी कभी-कभी ऐसे सत्य कह जाता है, जिसे सुनकर चकित रह जाना पड़ता है, इसका तात्पर्य उसकी वास्तविक योग्यता नहीं है। वह तो बुद्धि की खिड़की से आया हुआ सद्विचार और उड़ान का एक झोंका मात्र है। यहाँ साधना के क्षेत्र का प्रवेश होता है, जहाँ संयोग के लिए भी विशिष्ट स्थिति का निर्माण प्रस्तुत किया जाता है। साधारण व्यक्ति भी कभी इसप्रकार के 'मुक्ता' का सर्जक बन जाता है। यह महत् प्रकृति-बुद्धि की, सरस्वती के क्षणिक संस्पर्श का परिणाम है।

इस प्रकार हृदय और बुद्धि का समन्वय, हृदयानुगामी बुद्धि, ग्रहणोन्मुखता, समष्टि बुद्धि से एकात्मकता द्वारा उत्पन्न होने वाली प्रतिभा ही 'कविता' है। जो कि 'मुक्ता-मणि' कही जा सकती है। इसके पश्चात् उसमें छिद्र का निर्माण करके एकसूत्र में पिरोने का कार्य अवशिष्ट रह जाता है। क्योंकि एक माला के रूप में ही उसके सौन्दर्य का आनन्द लिया जा सकता है। कविता के अन्य बहिरंग लक्षण, गोस्वामीजी के 'जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं' में ही आ जाते हैं। एकसूत्रता और गूँथने की कला से भी सौन्दर्य में महान् अन्तर आ जाता है। इस कला के निष्णात व्यक्ति को 'महाकवि' कह सकते हैं। माला रूप में उसकी कल्पना से कविता की (हृदय पर अधिकार कर लेने की) शक्ति और कण्ठस्थता

का संकेत मिलता है। माला कण्ठ में धारण की जाती है और वह हृदय तक फैली रहती है। कविता में छन्द और गीतात्मकता से कण्ठ का सहयोग मिल पाना, उसके लिए अधिक सुगम और सम्भव हो जाता है। सम्भवतः इसीलिए 'कविता' छन्द और गीतात्मकता के साथ बहुत कुछ अभिन्न हो गयी है। इसके अभाव में वह कुछ बिखरी हुई-सी प्रतीत होती है; जिसको मुक्ता रूप में अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता; पर उसका जन-हृदय पर अधिकार सम्भव नहीं दिखता।

सुकवि रूप में भगवान् शिव के उल्लेख से भी गोस्वामीजी के कवि सम्बन्धी आदर्श पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। मानस के आदि कवि भगवान् शिव हैं। अतएव गोस्वामीजी की दृष्टि में कवि के चरम आदर्श भी वे ही हो सकते हैं। इसीलिए मानस के अन्त में शम्भु का उल्लेख, सुकवि-रूप में करते हैं—

यत्पूर्वं प्रभुणां कृतं सुकविना श्रीशुम्भुना दुर्गमं। ७/१३०श्लोक

एक बार इस सुकवि शब्द के कारण श्री राहुल सांकृत्यायन को प्राकृत भाषा के शम्भु कवि की स्मृति हो आयी; और तब उन्होंने अपना यह मत प्रकट कर दिया कि गोस्वामीजी अपने मानस की रचना शम्भू कवि से प्रभावित होकर करते हैं और यहाँ शम्भु के रूप में उन्हीं का नामोल्लेख है। मानस के पूर्वापर प्रसंगों की एकता को दृष्टिगत रखकर, विचार करने वालों को यह तर्क सर्वथा भ्रामक प्रतीत होगा; क्योंकि प्रारम्भ में भी गोस्वामीजी इस मानस की मूल परम्परा के आचार्य के रूप में जिन शम्भु का उल्लेख करते हैं, वे भगवान् शिव ही हैं—

**रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा। ११/३४/११
संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा। ११/२६/३
कीन्ह प्रसन्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी। ११/३२/१**

इन्हीं शम्भु की कृपा से तुलसी 'कवि' बन पाते हैं। सुकवि उपाधि के लिए भगवान् शिव से अधिक उपयुक्त, अन्य कोई हो भी नहीं सकता। सर्वाधिक महत्त्व की बात यह है कि समष्टि अहं के प्रतीक में भगवान् शिव का ही उल्लेख है—

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान ।

मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान ॥ ६/१५

समष्टि की समस्त जड़चेतनात्मक प्रकृति से एकात्मकता का अनुभव किये बिना कवि जो कुछ भी लिखेगा, वह उसकी सीमित भावनाओं का ही प्रतिबिम्ब होगा। यदि वह व्यथित है तो उसके हृदय की करुणा ही समस्त प्रकृति में परिव्याप्त दिखायी देगी। तब उसके लिए नवरस के समन्वित रूप का दर्शन कराना सम्भव न होगा। ऐसे भी कवि होते हैं; जिन्हें किसी विशिष्ट रस के चित्रण में अद्भुत सफलता प्राप्त होती है। इसका तात्पर्य यही है कि कवि अपने सीमित व्यक्तित्व से नहीं उठ पाता। पूर्व-कवि, ब्रह्म के समान द्रष्टा होते हुए भी 'सकल-रस-भोगी' होता है। भगवान् शिव के विवाह का प्रसंग एक विलक्षण अर्थ-गाम्भीर्य से परिपूर्ण जान पड़ता है। विवाह मुख्यतया शृंगाररसमय विषय माना जाता है; किन्तु भगवान् शिव का विवाह नवरसों की क्रीड़ा-भूमि है—

रौद्र — सौरभ पल्लव मदन बिलोका। भयउ कोपु कपेउ मैलोका ॥ १/८६/५

वीर — तब सिवैं तीसर नयन उधारा। चितवत कामु भयउ जरि छारा ॥ १/८६/६

भयानक— कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला ॥ १/८९/२

वीभत्स — गरल कंठ उर नर सिर माला। असिव बेष सिवधाम कृपाला ॥ १/८९/४

हास्य — बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई ॥ १/८२/१

अद्भुत — कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू ॥

बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्ट-पुष्ट कोउ अति तनखीना ॥ १/८२/७

करुण — कस कीन्ह बरु बौराह बिधि जेहिं तुम्हहि सुंदरता दई।

जो फलु चहिअ सुरतरुहिं सो बरबस बबूरहिं लागई ॥ १/८५ छंद

शृंगार — करहिं बिबिध बिधि भोग बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा ॥ १/१०२/५

शान्त — बैठे सोह कामरिपु कैसैं। धरैं सरीरु सांतरसु जैसैं ॥ १/१०६/१

सुकवि का ऐसा चित्र उनकी पूर्णता का ही प्रतीक है। वह विराट प्रकृति में परिव्याप्त विविधता का एक साथ अनुभविता है। अतएव सुकवि देश-काल-व्यक्ति की सीमा से परे वस्तु को अभिव्यक्त कर पाता है। उसके द्वारा व्यक्त काव्य,

प्रत्येक व्यक्ति को उसके जीवन का काव्य जान पड़ता है। इसकी तुलना में व्यक्ति-काव्य प्रभावशाली हो सकता है; लोगों के हृदय का क्षणिक स्पर्श प्राप्त कर सकता है। पर काल के प्रवाह में वह व्यक्ति-काव्य विस्मृति के गर्भ में समा जाता है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को मिटा कर ही 'अमर' हो सकता है।

भगवान् शिव की वन्दना भी विश्वास के रूप में कवि-हृदय की व्याख्या है। वे नीलकण्ठ हैं। संशय के गरल को पचाने की क्षमता उन्हीं में है। अमृत-मन्थन का पौराणिक रूप बड़ा ही आकर्षक है। गोस्वामीजी को यह रूपक अतीव प्रिय है। उनके प्रसंगों में उन्होंने इसके माध्यम से कई मधुर भावों का निर्देश किया है। भरत-प्रेम और भक्ति-मणि के मधुरतम प्रसंगों में गोस्वामीजी ने इसी रूपक का वर्णन किया है।

अमरता, समस्त प्राणियों की सबसे प्रिय और चिर आकांक्षा है। अतएव समस्त प्रकृति में अमृत-प्राप्ति का यह प्रयास चलता रहता है। विचार के क्षेत्र में सृष्टि के अज्ञात रहस्य के विशाल समुद्र में मनीषी मन्थन करता है। विचारों का मन्दराचल होता है 'मथनी'। पर उस मन्थन का होता है प्रथम परिणाम 'संशय'। संशय हलाहल रूप में प्रकट होता है। विचारक यदि हलाहल को ही अन्तिम परिणाम मानकर निराश होकर उसका वितरण समाज के लिए करता है; तब समाज के सद्गुण रूपी देवताओं का भस्म होना अनिवार्य है। ऐसी परिस्थिति में सुकवि शिव ही उसे पचा सकते हैं, जो कि जीवन के मूर्तिमान् विश्वास हैं। कवि केवल वैज्ञानिक नहीं, जो वस्तु का केवल निरपेक्ष द्रष्टा है, उसके गुण-दोष बता देना मात्र उसका कर्तव्य है। वह तो समाज को साथ में ही अमृत-पान की प्रेरणा देता है। जीवन के प्रति अनश्वर-आस्था ही वह 'अमृत-तत्त्व' है; जो समाज को विनष्ट होने से बचा सकती है।

ऐसे सुकवि शिव का यह दिव्य मानस भी जीवन की अमरता की दिव्य संगति है। उस सुकवि की कृपा से जिस सुमति का विकास हृदय में होता है; वही कवि तुलसी के लिए भी प्रेरक-शक्ति है। इस सुमति का वितरणकर्ता, विश्वास (शिव) है। अतएव सम्भवतः इसका उल्लास भी हृदय में ही होता है।

कवि और कविता के विषय में गोस्वामीजी की धारणाएँ अतीव उच्चकोटि की हैं। कवि एक साधारण व्यक्ति नहीं, वह तो समष्टि चेतना का प्रतिनिधि है;

जिसके माध्यम से विराट्-सत्य अभिव्यक्त होता है। जब गोस्वामीजी 'स्वान्तः सुखाय' शब्द का प्रयोग करते हैं, तब उनका 'स्व' समस्त का 'सब' है। 'स्वान्तः सुखाय' और 'सबकर हित होई' इन दोनों में उन्हें कोई विरोध प्रतीत नहीं होता। व्यक्ति की पृथक् सत्ता की अस्वीकृति के पश्चात् कविता के निरुद्देश्य होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। 'स्वान्तः सुखाय' का व्यक्तिवादी अर्थ, गोस्वामीजी को अभीष्ट नहीं है। उस रूप में (वैयक्तिक) न तो वे कवि हैं और न सन्देश देने के अधिकारी हैं। जब वे मानस की परम्परा का उल्लेख करते हुए भगवान् शिव से लेकर स्वयं तक का उल्लेख करते हैं, तब उनका तात्पर्य सत्य के शाश्वत रूप का स्मरण दिलाना है। ज्ञान और सत्य अनादि है, वह स्वयं को विविध व्यक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। इस अभिव्यक्ति में जो भेद कर सकता है, आज भी उनकी सफलता असन्दिग्ध रूप में हमारे समक्ष है।

कथा-साम्य पर विचार की दृष्टि से गोस्वामीजी वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा अध्यात्म रामायण के अधिक निकट हैं। गोस्वामीजी ने बाल्यावस्था में गुरुदेव के मुख से रामायणकथा का श्रवण-सौभाग्य प्राप्त किया—

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत।

समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥ १/३०

तब 'अति अचेत' होने के कारण भली-भाँति समझ न सके। पश्चात् उन्होंने 'भाषा बद्ध करबि मैं सोई' का संकल्प किया। इस स्वीकारोक्ति पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह कौन सी रामायण थी; जिसे उनके गुरुदेव सुनाते थे ? अनेक लोग उस रामायण के अन्वेषण में प्रवृत्त हैं। दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा लगता है कि मानस तो है अध्यात्म-रामायण के अत्यधिक निकट। फिर भी मानस को उसका अनुवाद कहना असम्भव है।

अध्यात्म रामायण की कथा शिव-पार्वती के संवाद रूप में है, यह साम्य, क्या यह सूचित करता है कि जो रामायण गोस्वामीजी ने सुना, वह अध्यात्म रामायण थी ? गोस्वामीजी ने दो संवादों (याज्ञवल्क्य-भरद्वाज और काग-गरुड़) को और भी जोड़ दिया है। गोस्वामीजी और मानस-प्रेमी रूप में चौथा संवाद 'रामचरितमानस' है ही। इस प्रकार चार वक्ता-श्रोता हो जाते हैं। इस मानस-सरोवर के 'चार-घाट' स्वयं गोस्वामीजी की 'कृति' है, इसे वे स्वीकार भी करते हैं—

सुठि सुंदर संवाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि।

तेइं एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥ १/३६

प्रारम्भ में शिव-पार्वती संवाद रूप में 'राम-चरित्र' दुर्गम था—'यत्पूर्व प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं'। सरोवर में घाट निर्माण होने के पश्चात् उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारानुसार प्रविष्ट होकर स्नान कर सकता है। अध्यात्म-रामायण में दार्शनिक दृष्टि से 'अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त ही' स्वीकृत हैं। मानस में भी भगवान् शिव मूलरूप में अद्वैत वेदान्त की मान्यता के अनुकूल ही 'राम के स्वरूप का निर्देश' करते हैं—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥

जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥

१/१११/१-२

अब एक प्रश्न और सामने आता है कि यदि उनके गुरु नरहरिदास या नरहर्यानन्द थे, तो वे रामानन्दी सम्प्रदाय के साधु थे। उन्होंने राम-कथा सुनने के लिए ऐसे ग्रन्थ का चुनाव क्यों किया ? जो सैद्धान्तिक रूप में अद्वैत वेदान्त का समर्थन करता है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि नरहरिजी सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित होने पर भी साम्प्रदायिक दुराग्रह से सर्वथा दूर होंगे। तभी सम्भव है कि गोस्वामीजी के साम्प्रदायिक अनाग्रह के मूल में गुरु के चरित्र और विचार की छाप रही है। फिर भी असन्दिग्ध रूप में यही कहा जा सकता है कि अध्यात्म रामायण और मानस अति सन्निकट हैं।

अध्यात्म रामायण की सार्थकता भी जितने सच्चे अर्थों में मानस में हुई है; वैसी स्वयं अध्यात्म रामायण में भी नहीं हो पायी है। त्रिविध स्तरों के रूप में शास्त्र के तात्पर्य लेने की प्राचीन प्रियशैली है। वाल्मीकि रामायण में राम-चरित्र का वर्णन अधिभूत-प्रधान है, कहीं-कहीं अधिदैव की झीनी झलक भी उसमें पा सकते हैं। अध्यात्म रामायण में भी उसका नाम अवश्य अध्यात्म है; पर कुछ उपदेशों को छोड़कर समग्र ग्रन्थ में आध्यात्मिक स्वरूप क्या है ? इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है। प्रारम्भ में (अध्यात्म रामायण के राम हृदय में)

जानकीजी द्वारा हनुमान्जी को जो उपदेश दिया गया है; वह बड़ा ही विलक्षण है। राम-स्वरूप वर्णन में आता है—

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम् ॥
आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
सर्वव्यापिनमात्मानं स्वप्रकाशमकल्मषम् ॥

(अध्यात्म रामायण-१/१/३२-३३)

इसके पश्चात् जानकी ने अपने स्वरूप का वर्णन किया—

मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यन्तकारिणीम् ।
तस्य सन्निधिमात्रेण सुजामीदमतन्द्रिता ॥ (अ०रा०-१/१/३४)
पूर्वोक्त दोनों वर्णन मानस से मेल खाते हैं—
अगुन अखंड अनंत अनादी । जेहि चिंतहिं परमारथबादी ॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा । निजानंद निरूपाधि अनूपा ॥

१/१४३/४-५

अगुन अदभ्र गिरा गोतीता । सबदरसी अनवद्य अजीता ॥
निर्मम निराकार निर्मोहा । नित्य निरंजन सुख संदोहा ॥
प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी । ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥

७/७१/५-७

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् । १/श्लोक-५

किन्तु इसके पश्चात् जानकीजी ने जो अनोखा वाक्य कहा, मानस में उसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। जानकीजी ने राम-लीलाओं का संक्षिप्त स्मरण करने के पश्चात् हनुमान से कहा कि ये समस्त कार्य मेरे द्वारा ही किये गये हैं; पर अज्ञानीजन इन्हें 'राम का कार्य' मानते हैं—

एवमादीनि कर्माणि मयैवाचरितान्यपि ।
आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि ॥
रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोच,
त्याकांक्षते त्यजति नो न करोति किञ्चित् ।

आनन्दमूर्तिरचलः परिणामहीनो,
मायागुणाननुगतो हि तथा विभाति ॥ (अ०रा०-१/१/४२-४३)

जन्म से राज्याभिषेक तक वर्णन के पश्चात् जानकी द्वारा कहा गया विशेष तात्पर्य यह है कि ये सभी कार्य मेरे द्वारा हुए हैं। अज्ञानीजन राम का कार्य मानते हैं। राम तो न चलते हैं, न ठहरते हैं, न सोचते हैं, न इच्छा करते हैं, न त्यागते हैं, न कुछ करते हैं। राम तो आनन्द मूर्ति हैं, अचल हैं, परिणाम-हीन हैं, माया के गुणों के अनुसार सञ्चालित, भासित होते हैं।

अध्यात्म रामायण में वर्णित सिद्धान्त ऐसा है, जो साधारण बुद्धि से समझा नहीं जा सकता। मानस में सिद्धान्त रूप से इसका स्पष्ट वर्णन न होते हुए भी राम की सगुणता के साथ ही अगुणता का बार-बार संकेत है। राम-लीला की नित्यता, साथ ही विनय-पत्रिका और मानस के नाम-वन्दना-प्रसंग में मानस की आन्तरिक, आध्यात्मिक स्वरूप की सूची, पूर्वोक्त सिद्धान्त को समझने में सहायक हो सकती है। गोस्वामीजी ने 'मानस का' इतना विलक्षण गुम्फन किया है कि वह एक साथ अधिभूत, अधिदैव व अध्यात्म तीनों की चरम संगति का चरित्र से प्रदर्शन कर सके। यद्यपि यह एक दुर्भाग्य की बात है कि गोस्वामीजी के अधिभूत का रस पाकर, उनके अध्यात्म की अधिकांश लोगों ने उपेक्षा कर दी। यदि अध्यात्म की बात भी की गयी तो संक्षिप्त एवं गौण रूप में, गोस्वामीजी दोनों को समान रूप से स्पष्ट करते हैं—

अगुन सगुन बिच नाम सुखाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ॥१२०/८
लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी ॥१२५/५
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा ॥१२६/२

अगुण, नाम, सगुण क्रम से मानस-सर के जल की स्वच्छता एवं सगुण लीला है; और सर की गहराई, अगुण की अबाध महिमा है। जल की स्वच्छता पर, उनकी लीला-विलास पर, लोगों ने ध्यान दिया; किन्तु गहराई की उपेक्षा कर दी। आगे चलकर विविध प्रसंगों में हम देखते हैं कि गोस्वामीजी ने कितने महान् कौशल से दोनों का निर्वाह किया है। अध्यात्म रामायण से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी गोस्वामीजी ने जो लघु-महत् अनेक परिवर्तन कर दिये

हैं, वे उनकी सूक्ष्म दृष्टि का अपूर्व ही परिणाम है। अध्यात्म रामायण की प्रथम झाँकी, कैलास शिखर पर स्थित शिव-पार्वती हैं—

कैलासाग्रे कदाचिद्रविशतविमले मन्दिरे रत्नपीठे,
संविष्टं ध्याननिष्ठं त्रिनयनमभयं सेवितं सिद्धसंघैः।

देवी वामांकसंस्था गिरिवरतनया पार्वती भक्तिनम्रा,

प्राहेदं देवमीशं सकलमलहरं वाक्यमानन्दकन्दम् ॥ (अ० रा०-१/१/६)

“कैलास पर्वत के शिखर पर सैकड़ों सूर्य के समान प्रकाशमान दिव्य भवन में रत्न-सिंहासन पर ध्यानावस्थित बैठे हुए, सिद्ध-समूह से सेवित, त्रिनयन, निर्भय, सर्वपापहारी, आनन्दकन्द, देवदेव, भगवान् शिव के वामा में विराजमान गिरिवर-राजकिशोरी देवी पार्वती ने भक्तिभाव से मुक्त नम्र वाणी द्वारा बोलीं।” दूसरी ओर अब मानस में विचित्र झाँकी का आनन्द लीजिए—

परम रम्य गिरिबरु कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू॥

सिद्ध तपोधन जोगिजन सुर किंनर मुनिबृंद।

बसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं सिव सुखकंद॥

तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला॥

त्रिबिध समीर सुसीतलि छाया। सिव विश्राम बिटप श्रुति गाया॥

एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ। तरु बिलोकि उर अति सुखु भयऊ॥

निजकर डसि नागरिपु छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला॥

कुंद इंदु दर गौर सरीरा। भुज प्रलंब परिधन मुनिचीरा॥

तरुन अरुन अंबुज सम चरना। नख दुति भगत हृदय तम हरना॥

भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी। आननु सरद चंद छबिहारी॥

जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल।

नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बालबिधु भाल॥

बैठे सोह कामरिपु कैसैं। धरें सरीरु सांतरसु जैसैं॥

पारबती भल अवसरु जानी। गई संभु पहिं मातु भवानी॥

जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बाम भाग आसनु हर दीन्हा॥

पति हियँ हेतु अधिक अनुमानी। बिहसि उमा बोलीं प्रिय बानी॥

१/१०४/८ से

अध्यात्म रामायण और मानस के शिव-शिवा की झाँकी देखिए, कौन अध्यात्म है और कौन अधिभूत ? कैलास शिखर के शत-सूर्य प्रकाशमान रत्नपीठ पर आसीन शिव और सुशीतल वटवृक्ष के नीचे, स्वयं ही व्याघ्र-चर्म बिछाकर बैठे हुए शिव में महान् भेद है। आन्तरिक रहस्य को प्रकट करने के लिए, कथा-सत्संग आदि के लिए, कौन-सा वातावरण अधिक उपयुक्त है; इसे समझने के लिए सहृदय पाठक को कोई कठिनाई नहीं होगी। वहीं सिद्ध-संघ की भीड़ है, और यहाँ गणों का अभाव है। 'निज कर डसि नागरिपु छाला' में यही संकेत है कि यहाँ कोई गण साथ में नहीं है। अपने सहज आनन्द में स्थित शिव को एकान्त में आसीन देखकर पार्वती का इसे 'सुअवसर' मानना उचित ही था; और ऐसे समय में मानस (मन की बात) का प्रकट होना, स्वाभाविक ही था।

केवट प्रसंग भी अध्यात्म रामायण से लिया गया है। परन्तु स्थान और विस्तार, सर्वथा भिन्न हैं। अहल्योद्धार के पश्चात् जनकपुर जाते हुए मार्ग में केवट राम को मिलता है और प्रभु से कहता है—

तस्मिन्काले नाविकेन निषिद्धो रघुनन्दनः॥
 क्षालयामि तव पादपंकजं नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम्।
 मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी॥
 पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा पश्चात्परं तीरमहं नयामि।
 नोचेत्तरी सद्युवती मलेन स्याच्चेद्विभो विद्धि कुटुम्बहानिः॥
 इत्युक्त्वा क्षालितौ पादौ परं तीरं ततो गताः।
 कौशिको रघुनाथेन सहितो मिथिलां मयौ॥

(अध्यात्म रामायण-१/६/२-५)

‘आपके चरण-कमल धोऊँगा’—कहकर और प्रभु का चरण धोकर पार उतार देता है। संक्षिप्त तीन श्लोकों में आया हुआ प्रसंग पाठक के हृदय में किसी प्रकार का रस-संचार नहीं कर पाता है। दूसरी ओर मानस का केवट, अहल्योद्धार और विवाह के अनेकों-द्वादश वर्षों के पश्चात् वन-गमन के समय गंगा तट पर मिलता है। वह मानस के मधुरतम प्रसंगों में प्रसिद्ध है। अयोध्या की मर्यादामयी लीलाओं के पश्चात् प्रेम-भूमि चित्रकूट की ओर प्रस्थान

करते हुए राम से गंगा तट पर केवट का मिलन, नवलीला और अद्भुत भावना वाले भक्तों की भूमिका प्रस्तुत करता है। कोल, भील, वानर, भालु से भी मैत्री स्थापित करने वाले राघवेन्द्र को, इस प्रेमिल स्वभाव की झाँकी का प्रथम-दर्शन गंगा तट पर होता है। यह केवट केवल चरण धोने के लिए ही व्यग्र नहीं है। उसका तो आग्रह है कि चरण भी मैं तभी धोऊँगा, जब आप स्वयं मुझसे अनुरोध करेंगे कि 'मेरा पाद-प्रक्षालन करो'—

जौं प्रभु पार अवसिगा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

२/६६/८

भगवान् राम उसकी इस माँग पर उन्मुक्त भाव से बिहँस उठते हैं। उलझन में पड़े लक्ष्मण और जानकीजी को भी इस विनोद में भाग लेने के लिए आमंत्रित करते हैं—

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।

बिहसे करुना ऐन चितइ जानकी लखन तन॥ २/१००

केवट भी प्रभु-चरण तभी धोता है; जब प्रभु आग्रह भरे स्वर में कह उठते हैं—

बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहि पारू॥ २/१००/२

अध्यात्म रामायण के केवट को भुला देना सरल है; किन्तु मानस का यह मधुर और अटपटे शब्द बोलने वाला 'केवट' अविस्मरणीय है।

अध्यात्म रामायण या अन्य राम सम्बन्धी काव्यों से भी जहाँ गोस्वामीजी ने किसी कथा-भाग या चरित्र-विशेष को लिया है; उसमें नया रंग, नये जीवन की ज्योति का संचार कर दिया है। फिर भी ऐसी अनेक घटनाएँ हैं; जिनका उल्लेख तक नहीं किया है। जानकी-त्याग का वर्णन, संकेतिक रूप से 'सिय-निंदक अध ओघ नसाए' मात्र, वन्दना प्रसंग में किये जाने पर भी उत्तरकाण्ड में इसका कोई उल्लेख नहीं है। गोस्वामीजी की सहृदयता, इसे सहन न कर पाती कि जानकी पर कोई कलंक लगावे और प्रभु का उनसे वियोग हो। इसके स्थान पर, अध्यात्म रामायण के स्वयं जानकी द्वारा कथित— 'मायामारीचमरणं माया-सीता-हृतिस्तथा' मात्र को स्वीकार किया है। क्योंकि

रामराज्य का वह समग्र आदर्श, जिसका गोस्वामीजी ने द्वादश दोहों (२० दोहा से ३१ दोहा तक) में वर्णन किया है; उनके लिए मूल्यरहित हो जाता है। यदि वहाँ के नागरिकों का अन्तःकरण इतना क्लुषित हो जाय कि अग्नि को भी पवनता प्रदान करने वाली वैदेही के चरित्र के प्रति संशयालु हो उठे तो आश्चर्य है। गोस्वामीजी, राम के अनुरागी भक्त हैं, उनके प्रत्येक कार्य में उन्हें गुण दिखायी देता है, ऐसे स्थलों पर भी जहाँ साधारण पाठक के लिए उनसे सहमत होना कठिन है, पर वैदेही-त्याग वाली घटना को वे उस रूप में न ले सके। अनेकों को राजाराम का यह कार्य, राजा के लिए आदर्श प्रतीत होता है। गोस्वामीजी यदि राजा के आदर्श के रूप में इस घटना को देख पाते तो इसका उल्लेख किये बिना न रहते। गीतावली में इस घटना का विस्तृत वर्णन अवश्य है; उसमें गोस्वामीजी, सीता-त्याग की घटना का दूसरा कारण प्रस्तुत करते हैं—

संकट सुकृत को सोचत जानि जिय रघुराउ।

सहस द्वादश पंच सत में कछुक है अब आउ॥

भोग पुनि पितु-आयु को, सोउ किए बनै बनाउ।

परिहरे बिनु जानकी नहिं और अनघ उपाउ॥ गीतावली-७/२५

“महाराज श्री दशरथ की नियतायु से पूर्व मृत्यु के कारण राम को उनकी अवशिष्ट आयु का उपभोग करना था; अतः उस समय जानकी को पृथक् करना अपेक्षित था; इसलिए उन्हें इस निमित्त से त्याग करना पड़ा।” इस कारण में कोई बल न था, और न तो स्वयं गोस्वामीजी को इससे सन्तोष हो पाया। इसीलिए उन्होंने मानस में इस घटना को अस्वीकार कर दिया। मानस के आदर्श उद्देश्य में वे किसी प्रकार इसे न जोड़ सकें। रामाज्ञा प्रश्न में तो उन्होंने पुरवासियों को ‘अभागे’ शब्द से सम्बोधित किया—

राम कुचरचा करहिं सब सीतहि लाइ कलंक।

सदा अभागी लोग जग कहत सकोचु न संक॥ रामाज्ञा-६/६/४

एक घटना, जिसे गोस्वामीजी ने मानस में सांकेतिक रूप से भी कहीं स्मरण नहीं किया; वह ‘शूद्र-मुनि का वध’ है। जिन लोगों को गोस्वामीजी में ‘सूद्र गवाँर ढोल पशु नारी’ आदि पाठ के कारण, शूद्रों के प्रति तीव्र द्वेष दिखायी देता है; उन्हें इस तथ्य पर विचार करना चाहिए। वर्णाश्रय धर्म का

कट्टर समर्थन और शूद्रों के प्रति द्वेष प्रकट करने के लिए इस कथा से अधिक उपयुक्त अन्य कोई माध्यम नहीं हो सकता था। तथाकथित ब्राह्मणभक्त गोस्वामीजी को लक्ष्मण द्वारा परशुराम को अपमानित कराने में संकोच नहीं हुआ, और न तो ब्राह्मण वध के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए राम ने अश्वमेघ यज्ञ किया। वह भी लिखना, गोस्वामीजी ने आवश्यक नहीं समझा। पर शूद्र-मुनि-वध की घटना को वे सर्वथा अस्वीकार कर देते हैं। शूद्र-मुनि का तप, उन्हें ऐसा कार्य नहीं लगा कि जिसके लिए उसे मृत्यु-दण्ड मिलना चाहिए। कारुणिक राम, स्वयं अपने सुकोमल हाथों से ऐसा कठोर कार्य कैसे कर सकते हैं ?

विविध घटनाओं और भिन्न-भिन्न पात्रों के चरित्र-चित्रण में गोस्वामीजी ने यथेष्ट स्वातन्त्र्य से काम लिया है। जहाँ भी वे भिन्नता लाते हैं; वहाँ उनके मानव चरित्र एवं मानव मनोविज्ञान की सूक्ष्म परख का पता लगता है।

वाल्मीकि के राम को भरत से यह कहने में संकोच नहीं होता कि मैं किसी भी प्रकार से अयोध्या लौटने के लिए प्रस्तुत नहीं हूँ। और उनके भरत भी हठी प्रतीत होते हैं जब राम को लौटाने के लिए 'अनशन' करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। अब देखिए मानस का अयोध्याकाण्ड, जो प्रेम रस का अगाध सागर है। भरत-राम का, एक दूसरे के प्रति शील के जो चित्र गोस्वामीजी उपस्थित किये हैं, वह एक अद्भुत इन्द्रधनुषी रंगशाला है। मानस के राघवेन्द्र भी पिता के परम-भक्त हैं। पर एक के प्रति समादर के कारण, वे अन्यो के अवहेलना नहीं कर देते। पिता के वचन और सत्य पर राम की आस्था है। किन्तु भरत की सुकुमार भावनाओं का स्मरण आते ही राम संकोच में डूब जाते हैं; भरत-हृदय की अनुरागमयी स्थिति पर विश्वास करते हुए राम, अपना अन्तर्द्वन्द्व भरत के समक्ष स्पष्ट कर देते हैं; राम को विश्वास है भरत के शील पर, प्रेम पर, धर्मज्ञता पर—

भरतु कहहिं सोइ किएँ भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥

२/२५८/८

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥

तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहितैं अधिक तुम्हार सँकोचू॥

२/२६३/६-७

वाल्मीकि ने राम की मर्यादा-प्रियता का चित्रण किया, सत्यवादिता का स्वरूप उपस्थित किया। किन्तु गोस्वामीजी के राम कहीं अधिक महान् हैं। वे सत्य और असत्य में सर्वदा सत्य का किंच दूसरे के सत्य का वरण करते हैं। उनके समक्ष है एक ओर अपना सत्य; और दूसरी ओर है भरत का सत्य। भरत, राम को अभिषिक्त करने के लिए आये हुए हैं। राम को केवल अपने ही सत्य की चिन्ता नहीं; उससे कहीं अधिक चिन्ता उन्हें भरत के सत्य की है, भरत-भावना की है। धर्म का यह स्वरूप कहीं अधिक व्यापक है। परिणाम क्या होता है ? जब राम, भरत के सत्य के लिए स्वयं के सत्य का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं; तब भरत को भी (राघवेन्द्र की अपेक्षा) अधिक व्यग्रता हो जाती है—‘राम की मर्यादा के रक्षण की’। सबका धर्म सुरक्षित रहता है; परन्तु कठोरता तथा विरसता के वातावरण में नहीं, अपितु प्रेम एवं सद्भाव के मधुरतम वातावरण में।



मानस का शृंगार

मानस में सम्पूर्ण रसों का समग्र परिपाक गोस्वामीजी के असीमित रसमय व्यक्तित्व का परिचय कराता है। गोस्वामीजी के सर्वस्व भगवान् प्रभु श्रीराम में ही एक साथ द्रष्टा भेद से अनेक रसों का परिदर्शन है—

- जिन्ह कैं रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ॥ १/२४०/४
- वीर - देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रसु धरे सरीरा ॥ १/२४०/५
- भयानक - डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी ॥ १/२४०/७
- रौद्र - रहे असुर छल छोनिय बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा ॥ १/२४०/८
- शृंगार - नारिबिलोकहिं हरषि हियँ निज-निज रुचि अनुरूप।
- जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप ॥ १/२४१
- अद्भुत - बिदुषन्ह प्रभु विराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा ॥ १/२४१/१
- वात्सल्य - सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी ॥ १/२४१/३
- शान्त - जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा ॥
- शृंगार - हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता ॥ १/२४१/४से
- रामहि चितव भायँ जेहि सीया। सो सनेहु सुखु नहिं कथनीया ॥

उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कबि कोऊ ॥ १/२४१/६से

वीभत्स - गरल कंठ उर नर सिर माला। असिव वेष सिव धाम कृपाला ॥ १/६१/४

भावनाओं की ये विविध धाराएँ किसी न किसी रूप में, समग्र मानस में प्रवाहित हैं। भावुकों का एक वर्ग वह है जो राम की महत्ता से परिचित है। उन्हें 'ईश्वर' समझता है। इस विभाजन में धर्मभूमि वाले, मर्यादा भूमि वाले, वशिष्ठ, विश्वामित्र, कौसल्या, दशरथ, सुमित्रा, भ्रातृगण, हनुमान् आदि एवं जनक महाराज हैं। जनकपुरवासिनी महिलाएँ, ग्राम-बधूटियाँ, कोल-भील आदि इसी श्रेणी में आते हैं। गोस्वामीजी ने सभी के भावों की मधुर-मधुर झाँकियाँ

दिखायी हैं। साथ ही वे, इस पृष्ठभूमि में भावना और वासना के भेद को भी स्पष्ट कर देते हैं। राम को ईश्वर समझकर जो भावनाएँ उठती हैं; उसके विषय में इस समय कुछ कहना नहीं है। जिन लोगों ने राम को मनुष्य के रूप में देखा; उनकी भावनाओं में स्नेह, त्याग, राम को सुखी बनाने की तीव्र आकांक्षा का दर्शन होता है।

गोस्वामीजी के सामने समस्या यह थी कि क्या भगवान् राम के चरित्र से शृंगार-भावना को सर्वथा बहिष्कृत कर दिया जाय ? पर यह स्वयं में भी एक अस्वाभाविक बात होती। इसप्रकार के शुद्धीकरण का प्रयास, जब भी कोई करता है, तभी शृंगार अन्य मार्गों से अधिक विकृत रूप में फूट निकलता है। गोस्वामीजी सरीखा मानव-मन का पारखी, इस रहस्य को न जानता हो, ऐसा कहना, कैसे सम्भव है ? शृंगार, मानव जीवन का चिरन्तन अंग है। सौन्दर्य का सृजन, संरक्षण अथवा जो कुछ भी कोमल एवं मधुर रूप में हम देखते हैं, उसके मूल में 'शृंगार' की ही कलात्मक उंगलियाँ काम करती रहती हैं।

गोस्वामीजी विरक्त थे। भौतिक शृंगार को छोड़कर आये थे। परन्तु शृंगार ने उनके जीवन में वह प्रतिक्रियावादी रूप धारण नहीं किया कि वे शृंगार के शत्रु बन जाते। उनका कलात्मक एवं भावुक अन्तःकरण, आघात से कठोर बनने के स्थान पर और भी संवेदनशील बन गया। गोस्वामीजी के 'मानस में' कथित नारी सम्बन्धी अनेक उक्तियों से कई लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि गोस्वामीजी का यह नारी-द्वेष, उस प्रतिक्रिया का परिणाम है; जो उन्हें अपनी पत्नी से व्यवहार रूप में मिला था। इसमें सन्देह नहीं कि कई उक्तियाँ बड़ी ही कठोर हैं। परन्तु जिस बात को लेकर 'नारी जाति के प्रति द्वेष की प्रतिक्रिया' कही जाती है; वह युक्ति-संगत बात नहीं है। इसके प्रत्युत्तर में कई लोगों ने नारी-पात्रों के उत्कृष्ट चित्रण की ओर ध्यान दिलाया कि क्या नारी-द्वेषी कवि, कौसल्या, सुमित्रा, शबरी, मन्दोदरी आदि जैसे पात्रों की सृष्टि कर सकता है ? तब इसके उत्तर में यही स्मरण दिलाया गया कि गोस्वामीजी केवल ऐसे ही स्त्री-पात्रों का उत्कृष्ट चित्रण करते हैं; जो उनके राम को 'ईश्वर' रूप में देखती हैं, पर यह तथ्य नहीं है।

जनकपुरवासिनी महिलाओं की और ग्रामवासिनी बधूटियों की जिस

कोमल भावना का गोस्वामीजी ने चित्रण किया है; वह इतना मधुर, इतना कोमल एवं अत्यधिक आकर्षक चित्रण है; जबकि ईश्वरत्व की भावना से एकदम दूर है। मानना पड़ता है कि गोस्वामीजी ने नारी-हृदय का सुकुमारतम रूप वाला शृंगार अपने पवित्रतम (निष्कलुष) रूप में जहाँ विद्यमान कराया है, वहाँ ही ऐसा चित्रण किया है। पुरुष पात्रों की तुलना में नारी-हृदय का चित्रण, बहुत आगे है।

गोस्वामीजी के जनकपुर वाले राम कोटि-कन्दर्प-कमनीय हैं। फिर उनकी हँसनि, बोलनि, चलनि सभी अनोखी है। चितवनि ऐसी कि 'चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं'। विदेहपुर में उनके सौन्दर्य की ख्याति फैल चुकी है। तभी समाचार मिला कि दोनों कुमार नगरदर्शन के लिए आ रहे हैं। सारा नगर राम को देखने के लिए उमड़ पड़ा—

धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥१/२१६/२

युवतियाँ भी गवाक्ष पथ से राघवेन्द्र को निहार रही हैं। स्त्रियों का सहज भावुक हृदय अनुराग रंग में रँग गया। क्या यह मर्यादा का अतिक्रमण था ? जिन्होंने मर्यादा की प्राचीरें अवगुण्ठन की ओट अथवा आँख मूँद लेने में मान रखी हैं; स्पष्ट है कि गोस्वामीजी उनसे भिन्न हैं। उनके मर्यादालोक की स्त्रियाँ, सौन्दर्य को देखती हैं, परखती हैं, आपमें वार्तालाप करती हुई सौन्दर्य की सराहना करती हैं; मुग्ध होती हैं; और यह सब क्रिया-कलाप, उन्हें ऊपर उठाता है। सौन्दर्य के प्रति यह पवित्र दृष्टि ही उनके मधुरभावों की विशेषता है। यह ध्यान रहे कि गोस्वामीजी निःसंकोच रूप से इसे 'शृंगार-भाव' स्वीकार करते हैं—

जुबतीं भवन झरोखन्हि लागी। निरखहिं राम रूप अनुरागी॥
कहहिं परसपर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती॥

१/२१६/४ से

कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥

१/२२०/१

देखि राम छबि कोउ एक कहई। जोगु जानिकिहि यह बरू अहई॥

१/२२१/१

सखि परंतु पनु राउ न तजई । बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई ॥

१/२२१/४

इसप्रकार वहाँ अनेक भावना वाली शृंगारप्रिय स्त्रियाँ, राम को देख रही हैं। धनुषयज्ञ प्रसंग में तो गोस्वामीजी ने पूर्ण स्पष्ट कर दिया—

नारि बिलोकहिं हरषि हियँ निज निज रुचि अनुरूप ।

जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप ॥ १/२४१

अखिल शृंगार भावनाओं को गोस्वामीजी ने 'निज-निज रुचि अनुकूल' कहकर पूर्णाकता प्रदान कर दिया।

सौन्दर्य-दर्शन-निषेध, वस्तुतः व्यक्ति को देखने का उकसावा देता है। सम्भव है कि किसी वस्तु को आप सहज भाव से देख लें। पर रोक देने पर व्यक्ति देखेगा अवश्य, साथ ही अपराध-भावना का निर्माण कर लेगा अथवा मानसिक विकृति रूप में चिन्तन की वस्तु बन जायेगा। यहाँ गोस्वामीजी ने 'देखने की कला का' जो मधुर रूप उपस्थित किया; वह मानो प्रेरित करता है कि देखो ही नहीं, ध्यान से देखो गहराई से परखो ! सौन्दर्य का भावपूर्ण सूक्ष्म निरीक्षण व्यक्ति को स्वार्थ-वासना तथा भोग-भावना से ऊपर उठा देता है। सौन्दर्य सुकुमारता की भावना को उस स्तर में ले जाती है कि उसे मन से भी छूने में भय लगे 'मनहूँ के करन तैं छुवत डरत हैं'। वाटिका में कोई सुकुमार पुष्प खिल रहा हो; पंखुड़ियाँ सौरभ बिखेर रही हों और हाथ जैसे बढ़ते-बढ़ते रुक जाँय। कहीं छूते ही पंखुड़ियाँ बिखर न जायँ ? मत छुओ इन्हें। दूसरों को भी रोको कि इनसे निर्वयता न करें। इन्हें इसीप्रकार भूमि की गोदी में खिलखिलाने दें। संभव हो तो थोड़ा जल पौधे की जड़ में डाल दें; जिससे पुष्प के प्राण शीतल हो जाँय। उस पर ऐसी छाया कर दें कि वे कड़ी धूप में मुरझा न जाँय। सच्ची शृंगार-भावना तो यही है। यदि दिखते ही तोड़ने का मन हो आया; कठोरतापूर्वक डाली से पृथक् कर दिया; थोड़ी देर सूँघा; मसल कर फेंक दिया तो यह शृंगार के नाम पर कलंक है।

जनकपुर की भाव-भीनी भामिनियाँ, राम के सौकुमार्य सौन्दर्य को निहारती हैं; हृदय में उठता है कि ये कैसे सुखी हों ? कैसी सुन्दर जोड़ी रहेगी- 'सिया-राम की'। कठोर शम्भु-धनु बीच में बाधा बना खड़ा है। यदि मेरी बात

जनक मानें तो प्रतिज्ञा को एक ओर रख दें; और कर दें 'सिया का विवाह राम से' उनके मन-चक्षुओं के समक्ष जैसे विवाह-मण्डप साकार हो उठा हो—

मंगलमय दोउ अंग मनोहर ग्रथित चूनरी पीत पिछोरी।

कनक कलस कहँ देत भाँवरी निरखि रूप सारद भइ भोरी॥

गीतावली-१/१०३/३

उनमें आकांक्षा है। अपना कुछ स्वार्थ भी वे स्वीकार कर लेती हैं। इन्हें देखने का पुनः सौभाग्य मिले। आँखें बार-बार इस रूप-माधुरी का पान कर सकें। यह तभी सम्भव होगा; जब जनकलली का इनसे परिणय हो जावे। किसी ने स्मरण कराया कि इनके विषय में बड़े अनोखे समाचार सुनने को मिले हैं। इसप्रकार आशा-निराशा के झूले में झूलते हुए उनके हृदय की जो झाँकी गोस्वामीजी ने प्रस्तुत किया है; उसमें क्या नहीं है ? शृंगार है, कामना है, अतृप्ति है, अपनत्व है। यहाँ वासना, ईर्ष्या, स्वार्थ, अधिकार जैसे मानो विलुप्त हैं—

जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होहि सब लोगू॥

सखि हमरें आरति अति तातें। कबहुँक ए आवहिं एहि नातें॥

१/२२१/७-८

ए दोऊ दसरथ के ढोटा। बाल मरालन्हि के कल जोटा॥

मुनि कौसिक मख के रखवारे। जिन्ह रन अजिर निसाचर मारे॥

१/२२०/३-४

बिप्रकाजु करि बंधु दोउ मग मुनिबधू उधारि।

आए देखन चापमख सुनि हरषीं सब नारि॥ १/२२१

शूर्पणखा प्रसंग में स्त्रियों के लिए कही गयीं दो चौपाइयाँ बहुधा परिष्कृत रुचि वालों को क्षुब्ध बना देती हैं। इनमें एक विशेष कुरुपता है। जब यह लगे कि ये सामूहिक रूप से स्त्रियों के लिए कही गयी है, तब तो मन महाग्लानि से भर जाता है। स्त्री को इतना हेय, उनकी मनोवृत्ति को इतनी वासना के प्रबल रूपों में चित्रित करना, क्या निन्दनीय नहीं है?

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥

होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी॥

३/१६/५-६

क्या इससे यह ध्वनि निकलती है कि गोस्वामीजी की समग्र स्त्री समाज के प्रति ऐसी ही धारणा है ? जबकि पूर्वोक्त दुर्वासना के दृष्टान्त में मानस में एक नारी का चित्रण है। अन्यत्र वैयक्तिक या सामूहिक, जहाँ भी नारी का चित्रण किया है; वहाँ वात्सल्य, स्नेह, सुकुमारता, अपनत्व, त्याग आदि सुन्दर भावना से भरा हुआ है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि वे ऐसी स्त्रियाँ भी हैं; जो राम को एक राजकुमार के रूप में देखती हैं; चमत्कारों का समाचार भी उन्हें ईश्वर मानने की प्रेरणा नहीं दे पाता। उनके विवरण बालकाण्ड में 'रुचिर चौतर्नी सुभगसिर से, हियँ हरषहिं बरषहिं सुमन'-तक मनन कर आनन्द लिया जा सकता है।

इस प्रसंग में मैं एक अनुरोध मानस के अध्येताओं से और करना चाहूँगा। मानस एक ऐसा ग्रन्थ है; जिसे गोस्वामीजी अपनी कृति नहीं मानते। वे मात्र उसके अनुवादक हैं। उसमें परम्परा से आये हुए विचार हैं। अतः जहाँ गोस्वामीजी का निजी व्यक्तित्व और मान्यताओं को समझना चाहें; वहाँ मानस के साथ ही गोस्वामीजी जिन ग्रन्थों का कृतित्व स्वीकार करते हैं, जहाँ वे स्वयं बोलते हैं, उन्हें भी साथ रखकर विचार करना चाहिए। गोस्वामीजी के निजी विचारों के लिए मानस की अपेक्षा, गीतावली, विनयपत्रिका, कवितावली आदि को अधिक प्रामाणिक माना जाना चाहिए। यदि ऐसा किया गया होता तो गोस्वामीजी पर किये जाने वाले अनेकों आक्षेपों का समुचित समाधान अपने आप हो जाता। पर अधिकांश आलोचकों और प्रत्युत्तर देने वालों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। सम्भवतः इसका कारण मानस की असाधारण लोकप्रियता है। इसीलिए लोगों ने अपना समग्र ध्यान मानस पर केन्द्रित कर दिया। परन्तु मानस उनके काव्य-संघ का सर्वोत्कृष्ट अंग होते हुए भी समग्र-चित्र नहीं है। उनके समग्र ग्रन्थों को मिलाकर ही 'पूर्ण-चित्र' होता है।

ग्रामवासिनी स्त्रियों का चित्रण तो और भी अधिक मार्मिक बन पड़ा है। मानस में और इससे भी अधिक गीतावली में स्त्री-पुरुष दोनों पात्रों के अनेक उत्कृष्ट चित्र हैं। फिर भी मानस में पुरुष पात्रों ने अधिक महत्त्व पा लिया है। इससे स्पर्धित गीतावली है; जिसमें स्त्री-पात्रों की मृदुल रसमयता से अधिकांश गीत ओत-प्रोत हैं। इसमें भी पुरुष-पात्र आते हैं; परन्तु जैसे स्त्री-पात्रों के समक्ष उनकी भावनाएँ शिथिल एवं निर्जीव लगने लगती हैं।

मानस में विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण के चले जाने के बाद लगता है कि गोस्वामीजी ने अयोध्या को भुला दिया, माताओं की भावना का कोई ध्यान न रखा। हाँ, जैसे दशरथ, राम को पृथक् करने की कल्पना से व्यथित हो उठते हैं। वैसे मानस में केवल इतना ही उल्लेख-‘जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस’ करके झट से गोस्वामीजी राम के साथ हो जाते हैं। यह एक शिष्टाचारात्मक परम्परा के पालन-मात्र की चेष्टा की गयी है। गीतावली में गोस्वामीजी ने राम के वनयात्रा के समय ‘कौसल्या की विरह-वेदना का’ कई पदों में वर्णन किया है। मानस में जैसे गोस्वामीजी को राम का साथ छोड़ना असह्य लगता है; और बड़ी कठिनाई से अत्यावश्यक होने पर वे संक्षिप्त दर्शन और घटना का वर्णन करके राम के पास पहुँच जाते हैं, परन्तु गीतावली में वैसे ही गोस्वामीजी को बहुधा राम से पृथक् होकर राम-भक्तों का हृदयावलोकन, अधिक प्रिय लगता है।

राम वन-पथ में जा रहे हैं। मदन-मोहन सौन्दर्य, साथ में सुकुमार प्रिया और वीर अनुज। ग्राम के समीप से निकल जाने वाले ये पथिक, ग्रामवासी नर-नारियों को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। स्त्रियों का हृदय तो अधिक कोमल एवं अधिक संवेदनशील होता ही है। अतएव भावुकता भरे हृदयों से वे परस्पर वार्तालाप करने लगती हैं। जनकपुर की भामिनियों में भी वार्तालाप हुआ, पर वे नागरी थीं और ये हैं ग्राम की भोली-भाली बालाएँ। गोस्वामीजी ने दोनों की भावुकता एवं स्वभाव के अन्तर को ध्यान में रखा। जनकपुरवासिनी युवतियों ने राम को झरोखों से ही देखा। नगर की अपनी कुछ पृथक् मर्यादाएँ होती हैं। पर यहाँ ग्रामवासिनी स्त्रियाँ, राम के सामने आ जाती हैं; उन्मुक्त भाव से राम को निरखती हैं; इतना ही नहीं आगे बढ़कर जानकी से सबका परिचय प्राप्त कर लेती हैं। गोस्वामीजी ने गीतावली में २६ पदों में ग्राम बधूतियों की भावना का चित्रण प्रस्तुत किया है। मानस में भी उनका वार्तालाप बड़ा ही मनोहारी है। राम की सुकुमारता देखकर वे व्याकुल हो उठती हैं। ब्रह्मा की आलोचना करती हैं। फिर ब्रह्मा से यह भी आशा करती हैं कि यदि इन राजकुमारों को वन में ही भेजना था तो इनके लिए पुष्प-मार्ग बनाना चाहिए था। एक ग्रामबधूती तो भाव-विभोर हो यों बोल उठी कि यदि ब्रह्मा इन्हें दे देते तो मैं इन्हें अपनी आँखों में ही रख लेती-

जों जगदीस इन्हहि बनु दीन्ह। कस न सुमनमय मारगु कीन्ह॥
जों मागा पाइअ बिधि पाहीं। ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं॥

२/१२०/४-५

इस ग्रामबधूटी ने तो पलकों का एक उपयोग निकाल लिया। राम बाहर रहें ही क्यों ? जो देखने में बाधा पड़े। वह तो उन्हें हृदय मन्दिर में सदा-सर्वदा के लिए रख लेना चाहती है। तब पलकों का उपयोग हो जायेगा; वे कपाट बनकर बन्द हो जायँगी। तब ब्रह्मा को धन्यवाद देगी कि अच्छा किया, जो पलकों के कपाट युक्त नेत्र-मन्दिर का निर्माण किया। वह कह उठेगी कि ब्रह्मा ! तुम बड़े दूरदर्शी हो।

इन ग्रामवासी बधूटियों की राम के प्रति स्नेह की भाव-भूमि विचित्र है। राम में केवल मर्यादा है, ऐसा मानना सर्वथा उपयुक्त नहीं है। उनमें सब है, मर्यादा भी, प्रेम भी, न्याय भी, उदारता भी। इन सबों का विलक्षण समन्वय राम में है। फिर भी ग्रामबधूटियों का प्रेम घनीभूत हो जाता है जानकीजी में। जानकीजी द्वारा दोनों का स्नेह, इन्हें प्राप्त हो जाता है। जैसे जानकीजी के माध्यम से उनका स्नेह सब पर बरस रहा है। राम जब जानकी की ओर स्नेहमयी दृष्टि से निहारते हैं तो बधूटियों को ऐसा लगता है कि वह चितवनि हमारे लिए भी है। अतएव राम का परिचय, वे राम से नहीं, जानकी से पूँछती हैं। वे राम के प्रति अपने स्नेह-सुमन, जानकी के चरणों में चढ़ाती हैं। राम की स्नेह-दृष्टि का अनुभव, वे जानकी की 'अवलोकनि में' करती हैं। वे जानकी के समक्ष अपने हृदय को खोल कर रख देती हैं। मानस और कवितावली दोनों में इसका सरस चित्र है—

सीस जटा, उर-बाहु-बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी-सी भौहैं।
तून सरासन-बान धरें तुलसी बन-मारग में सुठि सोहैं।
सादर बारहिं बार सुभायँ चितै तुम्ह त्यों हमरो मनु मोहैं।
पूँछति ग्राम-बधू सिय सों, कहौ, साँवरे-से, सखि ! रावरे को हैं ? ॥

कवितावली-२/२१

क्या ही भोलेपन से भरा हुआ भाव-भीनी प्रश्न है कि सखि, रावरे को हैं ? फिर हृदय की साफ बात—'चितै तुम्ह त्यों, हमरो मन मोहैं' भी कह दिया।

जब इसके प्रत्युत्तर में राम का परिचय देते हुए जानकीजी ने श्रीराम को देखा तो लगा कि सारा रत्न-कोष खुल गया हो, इस खजाने को लूटकर हृदय में छिपा लिया—

बहुरि बदनू बिधु अंचल ढाँकी । पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ॥
 खंजन मंजु तिरीछे नयननि । निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि ॥
 भई मुदित सब ग्राम बधूटीं । रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं ॥

२/११६/६-८

प्रेम पाने और देने का यह नया मार्ग ग्रामबधूटियों ने पाया। यही तो गोस्वामीजी के मधुर भावों की उत्कृष्टता है। सीता के सौभाग्य में ही ग्रामबधूटियाँ अपना भाग बटा लेती हैं। ईर्ष्या की क्या आवश्यकता ? जबकि सौभाग्य की स्वामिनी सीता स्वयं ही अपना सर्वस्व देने को प्रस्तुत हैं। ऐसा नहीं है कि ग्रामबधूटियों की ओर राम ने न निहारा हो; उनकी सीधी दृष्टि उन्हें प्राप्त न हुई हो। मानस में इसका उल्लेख नहीं है तो क्या हुआ, कवितावली में 'अचानक दृष्टि' पड़ गयी थी—

मुख पंकज, कंजबिलोचन मंजु, मनोज-सरासन-सी बनी भौहैं ।
 कमनीय कलेवर कोमल स्यामल-गौर किसोर, जटा सिर सोहैं ॥
 तुलसी कटि तून, धरें धनु-बान, "अचानक दिठि परी तिरछौहैं ।
 केहि भाँति कहौं सजनी ! तोहिसों, मृदु मूरति द्वै निबसीं मन मोहैं ॥

कवितावली-२/२५

गीतावली में यह झाँकी और भी विकसित रूप में है। जानकी के प्रति ग्राम बधूटियों का सहज स्नेह, जिसमें ईर्ष्या का लेश नहीं है। राम को भा जाता है। अतएव उस ग्रामबधूटी को सिय-राम की जोड़ी ने सस्नेह एवं प्रेमपूर्वक निहारा—

देखु, कोऊ परम सुंदर सखि ! बटोही ।
 चलत महि मृदु चरन अरुन-बारिज-बरन,
 भूपसुत रूपनिधि निरखि हौं मोही ॥
 अमल मरकत स्याम, सील-सुखमा-धाम,
 गौरतनु सुभग सोभा सुमुखि जोही ।

जुगल बिच नारि सुकुमारि सुठि सुंदरी,
 इंदिरा इंदु-हरि मध्य जनु सोही॥
 करनि बर धनु तीर, रुचिर कटि तूनीर,
 धीर, सुर-सुखद, मरदन अवनि-द्रोही।
 अंबुजायत नयन, बदन-छबि बहु मयन,
 चारु चितवनि चतुर लेति चित पोही॥
 'बचन प्रिय सुनि श्रवन राम करुनाभवन,
 चितए सब अधिक हित सहित कछु ओही'
 दास तुलसी नेह-बिबस बिसरी देह,
 जान नहि आपु तेहि काल धौं को ही॥

(गीतावली-२/१८)

*

*

*

माई ! मन के मोहन जोहन-जोग जोही।
 थोरी ही बयस गोरे-साँवरे सलोने लोने,
 लोयन ललित, बिधु-बदन बटोही॥
 सिरनि जटा-मुकुट मंजुल सुमनजुत,
 तैसिए लसति नव पल्लव खोही।
 किए मुनि-बेष बीर, धरे धनु-तून-तीर,
 सोहैं मग, को हैं, लखि परै न मोही॥
 सोभा को साँचो साँवरि रूप जातरूप,
 ढारि नारि बिरची बिरंचि, संग सोही।
 राजत रुचिर तनु सुंदर श्रम के कन,
 चाहे चकचौं धी लागै, कहौं का तोही॥
 "सनेह-सिधिल सुनि बचन सकल सिया,
 चितई अधिक हित सहित ओही।"
 तुलसी मनहु प्रभु-कृपा की मूरति फिरि,
 हेरि कै हरषि हिये लियौ है पोही॥

(गीतावली-२/२०)

सजनी ! हैं कोउ राजकुमार ।

पंथ चलत मृदु पद कमलनि दोउ सील-रूप-आगार ॥

आगे राजिवनैन स्याम-तनु, सोभा अमित अपार ।

डारौं वारि अंग-अंगनिपर, कोटि-कोटि सत मार ॥

पाछैं गौर किसोर मनोहर, लोचन-बदन उदार ।

कटि तूनीर कसे, कर सर-धनु, चले हरन छिति-भार ॥

जुगुल बीच सुकुमारि नारि इक राजति बिनहि सिंगार ।

इंद्रनील, हाटक, मुकुतामनि, जनु पहिरे महि हार ॥

अवलोकहु भरि नैन, बिकल जनि होहु, करहु सुबिचार ।

पुनि कहैं यह सोभा, कहैं लोचन, देह-गेह-संसार ? ॥

“सुनि प्रिय-बचन चितै हित कै रघुनाथ कृपा-सुखसार ।”

तुलसिदास प्रभु हरे सबन्हिके मन, तन रही न सँभार ॥

(गीतावली-२/२६)

सिया-राम की वह एक दृष्टि, उस ग्रामबधूटी के जीवन के लिए ‘निधि’ बन गयी। केवल एक क्षण का वह पुनीत स्नेह, उसे जीवन में कभी न भूल पाया। ग्रामबधूटी ने एक बार देखा, एक दृष्टि पायी; और पथिक चले गये सदा-सदा के लिए दूर ! फिर जीवन में उन्हें देखने का सुअवसर न आया। परन्तु छाप ऐसी पड़ी कि कभी धोये न धुली। कुछ भी तो भला नहीं लगता ! माता, पिता, भाई, परिजन आदि सभी तो हैं; पर अपने ये सब पराये हो गये! जिसे पराया समझा था; आज वही ‘सर्वस्व’ लगता है। कैसे होंगे उनके स्वजन, जिन्होंने उन्हें वन में भेज दिया ? राम के चित्रकूट की ओर चले जाने के पश्चात् उस ग्रामबधूटी की क्या दशा हुई ? इसका करुण चित्र ‘गीतावली में’ अंकित है—

सखि ! जब तैं सीतासमेत देखे दोउ भाई ।

तब तैं परै न कल, कछू न सोहाई ॥

नखसिख नीके, नीके निरखि निकाई ।

तनुसुधि गई, मन अनत न जाई ॥

हेरनि-हँसनि हिय लिए हैं चोराई ।

पावन-प्रेम-बिबस भई हौं पराई ॥

कैसे पितु-मातु प्रिय परिजन-भाई।
जीवत जीव के जीवन बनहि पठाई॥
समउ सो चित करि हित अधिकाई।
प्रीति ग्रामबधुन की तुलसिहु गाई॥

(गीतावली-२/४०)

इस प्रकार की गोस्वामीजी ने मधुर भावों वाली जो धारा मानस आदि में प्रस्तुत किया है; वह पुनीत अन्तस्तल में और उनके राम के चरित में सुसंगत है। मानस के सभी भावों में अधिकांश 'दास्य की भाव-ध्वनि' है। अपवाद रूप में दशरथ, जनक, ग्रामवासिनी युवतियाँ आदि कुछ पात्र ही दास्य भाव से मुक्त हैं। इसका स्पष्ट कारण भी यही है कि मानस के अधिकांश पात्र राम के ईश्वरत्व से परिचित हैं। वात्सल्य और मधुर भाव के चित्र कवितावली में बहुत ही मनोहर बन पड़े हैं, उनमें 'दास्य को' नहीं आने दिया गया है। गीतावली में रस-परिपाक होने दिया गया है; जबकि मानस में रस से अधिक महत्त्व, 'स्वरूप' को दिया गया है। ऐसी पद्धति उद्देश्य की भिन्नता के कारण हो गयी है। भावों की साहित्य-मूलक संगति की अपेक्षा, उपासना-मूलक संगति पर गोस्वामीजी ने अपना ध्यान केन्द्रित किया है; जिसे बड़ी ही सफलता से निर्वाह भी किया है।



परमपूज्यपाद श्री रामकिंकरजी महाराज द्वारा विरचित साहित्य-सूची

मानस चिन्तन भाग-१	मानस प्रवचन भाग-१
मानस चिन्तन भाग-२ (भवानीशंकरौ वन्दे)	मानस प्रवचन भाग-२
मानस चिन्तन भाग-३	मानस प्रवचन भाग-३
मानस मंथन भाग-१	मानस प्रवचन भाग-४
मानस मंथन भाग-२	मानस प्रवचन भाग-५
मानस मंथन भाग-३ (शिवतत्त्व)	मानस प्रवचन भाग-६
मानस मंथन भाग-४ (लक्ष्मण चरित्र)	मानस प्रवचन भाग-७
मानस मंथन भाग-५ (विभीषण शरणागति)	मानस प्रवचन भाग-८
प्रेममूर्ति भरत	मानस प्रवचन भाग-९
मानस-रोग भाग-१	मानस प्रवचन भाग-१०
मानस-रोग भाग-२	मानस प्रवचन भाग-११
मानस-रोग भाग-३	मानस प्रवचन भाग-१२
मानस-चिकित्सा	मानस प्रवचन भाग-१३
चातक चतुर राम श्यामघन के	मानस प्रवचन भाग-१४
धर्मसार भरत	मानस प्रवचन भाग-१५
रामकथा ससि किरन समाना	मानस प्रवचन भाग-१६
तुलसी की दृष्टि	मानस प्रवचन भाग-१७
मानस के चार घाट	मानस प्रवचन भाग-१८
साधुचरित	मानस प्रवचन भाग-१९
तुलसी रघुनाथ गाथा	मानस प्रवचन भाग-२०
मानस पंचामृत	वनपथ में श्रीराम
सुन्दरकाण्ड की सुन्दरता	श्रीराम गीता
राम गुन गाऊँ	तुलसीदास मेरी दृष्टि में
आदर्श मानव समाज	कृपा और पुरुषार्थ
शीलसिन्धु राघव माधुर्य मूर्तिमाधव	शरणागति का स्वरूप
मानस एवं विनयपत्रिका : तुलनात्मक विवेचन	दण्डक वन
मानस एवं गीता का तुलनात्मक विवेचन-१	ज्ञानदीपक
मानस एवं गीता का तुलनात्मक विवेचन-२	महारानी कैकेयी
वन्दे विदेह तनया	परशुराम संवाद
रामकथा मंदाकिनी	सुग्रीव और विभीषण
नाम रामायण	श्रीराम और श्रीकृष्ण
मानस दर्पण भाग-१	मानस और भागवत में पक्षी
मानस दर्पण भाग-२	रामायण के पात्र
मानस दर्पण भाग-३	प्रसाद
मानस दर्पण भाग-४	विजय, विवेक और विभूति
मानस मुक्तावली भाग-१	सुन्दरकाण्ड
मानस मुक्तावली भाग-२	श्री हनुमानजी महाराज
मानस मुक्तावली भाग-३	श्री रामनाम
मानस मुक्तावली भाग-४	महाराज श्री दशरथ
मानस चरितावली भाग-१	साधक-साधन
मानस चरितावली भाग-२	

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

श्री रामकिंकर उवाच !....

१. प्रभु की कृपा की व्याख्या घटनाओं के आधार पर मत करो अपितु प्रत्येक घटना की सुसमीक्षा करो कि इसमें किस तरह प्रभु की कृपा है।
२. संभव हो तो व्यक्तिपरक चर्चा मत करो।
३. सत्य को विनोद का आधार मत बनाओ।
४. क्रिया-प्रतिक्रिया, वाद-विवाद से बचो।
५. जीवन में सुख लेने के लिए अपने से नीचे देखो और यह स्मरण करो कि प्रभु ने तुम्हें उसकी तुलना में क्या-क्या दिया।
६. जब कभी क्रोध आये तो उस समय किये गये निर्णय को कल पर टाल दो।
७. न तुम्हारे पास पहले कुछ था और न अन्त में रहेगा यह जो कुछ दिख रहा है यह केवल मध्य का खेल है। इसीलिए भगवान ने धनुष को मध्य से तोड़ा। यह मध्य ही हमारे जीवन में अहंकार और दुःख का कारण है।
८. जिस प्रकार ५०० रु. के नकली नोट की तुलना में ५ रु. का असली नोट अच्छा है उसी प्रकार नकली निष्कामता के स्थान पर असली सकामता श्रेष्ठ है। भगवान श्रीराम ने कभी सकाम को तुच्छ नहीं समझा और निष्कामता की अवहेलना भी नहीं की।
९. महत्वपूर्ण यह नहीं है कि आपके पास कितनी वस्तुएँ हैं, महत्वपूर्ण यह है कि आपने उसे किस मार्ग से पाया है और आप उसका क्या उपयोग करते हैं।

॥ श्रीरामः शरणं मम ॥

श्री रामकिंकर उवाच !....

१. प्रभु की कृपा की व्याख्या घटनाओं के आधार पर मत करो अपितु प्रत्येक घटना की सुसमीक्षा करो कि इसमें किस तरह प्रभु की कृपा है।
२. संभव हो तो व्यक्तिपरक चर्चा मत करो।
३. सत्य को विनोद का आधार मत बनाओ।
४. क्रिया-प्रतिक्रिया, वाद-विवाद से बचो।
५. जीवन में सुख लेने के लिए अपने से नीचे देखो और यह स्मरण करो कि प्रभु ने तुम्हें उसकी तुलना में क्या-क्या दिया।
६. जब कभी क्रोध आये तो उस समय किये गये निर्णय को कल पर टाल दो।
७. न तुम्हारे पास पहले कुछ था और न अन्त में रहेगा यह जो कुछ दिख रहा है यह केवल मध्य का खेल है। इसीलिए भगवान ने धनुष को मध्य से तोड़ा। यह मध्य ही हमारे जीवन में अहंकार और दुःख का कारण है।
८. जिस प्रकार ५०० रु. के नकली नोट की तुलना में ५ रु. का असली नोट अच्छा है उसी प्रकार नकली निष्कामता के स्थान पर असली सकामता श्रेष्ठ है। भगवान श्रीराम ने कभी सकाम को तुच्छ नहीं समझा और निष्कामता की अवहेलना भी नहीं की।
९. महत्वपूर्ण यह नहीं है कि आपके पास कितनी वस्तुएँ हैं, महत्वपूर्ण यह है कि आपने उसे किस मार्ग से पाया है और आप उसका क्या उपयोग करते हैं।